धर्म-दर्शन

(दर्शन-संगोष्ठी ग्रंथ)

सम्पा:

डॉ० सुखदेव सिंह शर्मा

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दर्शन-विभाग,

बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना - ३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत सरकार (शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ अकादमी द्वारा मगध विश्वविद्यालय में आयोजित दर्शन-संगोष्ठी (नवंबर, १९७१) में पठित कतिपय निबंधों का संकलन है।

प्रकाशित ग्रंथ-संख्या : ५७

प्रथम संस्करण : मई, १९७३

२०००

मूल्य : ५.०० (पाँच रुपए मात्र)

प्रकाशक :
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी,
सम्मेलन भवन, पटना-३

मुद्रक :
श्री श्याम बिहारी प्रेस,
बिहारी साव लेन, पटना-४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीतिसंकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकाओं की स्थापना हुई है। विहार में इस योजना का कार्यान्वयन विहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।
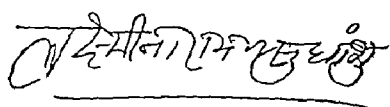
योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'धर्म-दर्शन' डॉ सुखदेव सिंह शर्मा द्वारा सम्पादित निबंध-संकलन है, जिसे भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय स्तर के दर्शन-संबंधी विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

पटना

दिनांक १६-५-७३

अध्यक्ष

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
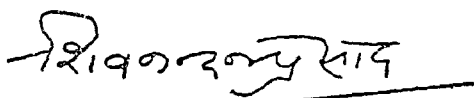
प्रकाशकीय

प्रस्तुत ग्रंथ 'धर्म-दर्शन' भारत सरकार की ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा मगध विश्वविद्यालय में नवंबर, १९७१ में आयोजित दर्शनविषयक हिंदी माध्यम अध्यापन संगोष्ठी तथा पुनश्चर्या कार्यक्रम के अवसर पर पठित कतिपय निबंधों का संकलन है, जो बिहार विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष डॉ० सुखदेव सिंह शर्मा द्वारा संपादित है। इसमें सम्मिलित निबंधों के लेखक अपने विषय के अनुभवी अध्यापक हैं और ये सभी निबंध परिश्रमपूर्वक तैयार किए गए हैं तथा संगोष्ठी के अवसर पर विचार-विमर्श के आलोक में इनका संपादन किया गया है, जिससे इनकी उपयोगिता बढ़ गई है।

इसका मुद्रण-कार्य श्री श्याम बिहारी प्रेस, बिहारी साव लेन, पटना-४ ने किया है। इसके प्रूफ-संशोधन का कार्य सुप्रसिद्ध हिंदीसेवी श्री हिमांशु श्रीवास्तव ने किया है। आवरण-शिल्प, ब्लॉक-निर्माण एवं छपाई-संबंधी कार्य नेशनल ब्लॉक वर्क्स, पटना-४ ने किया है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

पटना

दिनांक १९-५-७३

शिवनन्दन प्रसाद

निदेशक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

भूमिका

संसार की सभी जातियों में किसी-न-किसी रूप में धर्म का अस्तित्व मान्य रहा है और पश्चिमी तथा भारतीय मनीषा ने इसके सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप पर पर्याप्त चिंतन-मनन किया है। धर्म का लोकपक्षीय रूप सदा से ही आचार और व्यवहार का संबल लेकर चलता रहा है। किंतु, यह आचार कभी-कभी चिंतन के अभाव और संकीर्णता के कारण रूढ़ि एवं अंधविश्वास का रूप भी ग्रहण करता रहा है। ऐसे मोड़ों पर आ कर धर्म को क्रांतिकारी परिवर्त्तनों का सामना करना पड़ा है और एक ही धर्म में अनेक शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं।

वर्तमान युग की बुद्धिवादिता और तर्कशक्ति ने जब रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों का मोह-पाश काटना प्रारंभ किया, तो लोगों में यह धारणा बँधने लगी कि जैसे-जैसे जीवन में बुद्धि और तर्क का प्रभाव बढ़ेगा, धर्म के प्रति आस्था का ह्रास होगा। आज भी बहुत लोगों के मन में यह बात जमी हुई है।

किंतु बड़े-बड़े विचारकों, बुद्धिजीवियों और वैज्ञानिकों आदि ने अपने जीवन के उत्तरकाल में किसी अतिप्राकृतिक शक्ति, ईश्वर या अन्य सार्वभौम सत्ता के प्रति जो आस्था प्रकट की है, उससे लगता है कि मानव बिना किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति आस्था रखे जीवन में चल नहीं सकता।

यदि इसे छोड़ भी दिया जाय, तो आज जिस मानवतावाद का समर्थन सर्वत्र किया जाता है, मानव के कल्याण और हित की बात कही जाती है, वह भी एक नए धर्म—मानव धर्म का ही सूचक है। इससे भी भिन्न अगर हम स्वदेश-विदेश के सामान्य जनसमूह को देखें, तो वह आज भी परंपरित धर्माचरणों पर चल ही रहा है।

अतः, इनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुपयुक्त नहीं है कि मानव-जीवन में धर्म के अस्तित्व को ले कर निराश होने की आवश्यकता नहीं है। किसी-न-किसी रूप में धर्म मानव-जीवन को धारण करने वाला तत्त्व बन कर उसे सहारा देता ही रहेगा।

जीवन और चिंतन के क्षेत्र में धर्म की सत्ता को ले कर उठने वाले ऊहापोहों का निराकरण कर वास्तविक स्थिति की स्थापना धर्म-दर्शन के

विषय-सूची

अध्येताओं का आवश्यक कार्य है। इसी महत्त्व के कारण धर्म-दर्शन से संवद्ध विभिन्न विषयों से संवंधित लेखों का प्रस्तुत संग्रह महत्त्वपूर्ण है।

हिंदी में उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम-निर्माण के उद्देश्य से सचालित केंद्रीय सरकार की योजना के अधीन विहार हिंदी ग्रंथ अकादमी ने मगध विश्व-विद्यालय के तत्त्वावधान में दर्शन-शास्त्र की विभिन्न शाखाओं से संवंधित सेमिनारों का आयोजन किया। उनमें से धर्म-दर्शन खंड से संवद्ध सेमिनार में जिन अध्यापकों और विद्वानों ने अपने महत्त्वपूर्ण निवंधों का पाठ किया, उनके ही निवंधों का यह संकलन छात्रों के हित के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

विहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के सचिव और हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् वंधुवर डॉ० शिवनंदन प्रसाद का आभारी हूँ, जिनकी अभिरुचि और तत्परता से प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है।

यदि इस संग्रह द्वारा धर्म-दर्शन के छात्रों को लाभ पहुँचा तो लेखक, संपादक और अकादमी तीनों अपना श्रम सार्थक समझेंगे।

सुखदेव सिंह शर्मा

दिनांक १५-५-७३

विषय-सूची

धर्म-दर्शन

१. भारतीय धर्म-दर्शन की समकालीन समस्याएँ

डॉ० याकूब मसीह
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र-विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।

वैदिक काल अतिप्राचीन माना जाता है और अधिकांश विचारक अब यह भी मानने लगे हैं कि आर्य पश्चिम देशों से भारत में आये हैं। साथ-ही-साथ यह धारणा भी जम गई है कि भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में उच्चकोटि की सभ्यता थी, जिसे 'सिन्धुतट सभ्यता' की संज्ञा दी जाती है। इस सिन्धुतट-सभ्यता का दार्शनिक विचार अभी भी भूगर्भ में तथा अज्ञात अक्षरों में छिपा हुआ है। परन्तु, इस सिन्धुतट की प्राप्त मूर्तियों के अवलोकन से कुछ ज्ञातव्य बातें झलक जाती हैं।

कम-से-कम तीन मूर्तियाँ देवताओं की हैं। प्रत्येक देवता नग्न (ऊर्ध्वमेढ्र) रूप में योगासन लगाये हुए बैठा है, जिसके शरीर से नवपल्लव लगे हुए हैं। दाहिनी ओर हाथी और बाघ हैं तथा बाईं ओर गैंड़ा एवं भैंसा हैं।

इससे सिद्ध होता है कि यह देवता योगीराज समाधि की मुद्रा में है और यह दिगम्बर भी है। साथ-ही-साथ नवपल्लवों के तथा योनियों की मूर्तियों के उपस्थित रहने से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि यह देवता लिंग-राज है। अपितु, पशुओं के चारों ओर बैठे रहने से यह अटकल लगाया जाता है कि यह देवता पशुपति भी है। ध्यानी-योगी, लिंगराज तथा पशुपति केवल एक ही देवता संभव हो सकते हैं अर्थात् शिव भगवान। अतः, लगभग ऐसा

को ईश्वरवादी समझने की भ्रान्ति का मुख्य कारण है कि भारतीय निरीश्वर-वाद जड़वादी नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक है। जैन, बौद्ध, मीमांसा तथा अन्य निरीश्वरवादी मानव के पारलौकिक लक्ष्य में विश्वास रखते आये हैं और चूँकि ईश्वरवाद पारलौकिकता के साथ-साथ पाया जाता है, इसलिये लोगों को भ्रम हो गया है कि भारतीय धर्म-दर्शन ईश्वरवादी है। फिर समकालीन पाश्चात्य निरीश्वरवाद जड़वादी तथा ऐहिक एवं मानवतावादी है। इसलिए लोगों का यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि अध्यात्मवादी जैन, बौद्ध, शांकर मत इत्यादि को निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता है। पुनः, यह भी सत्य है कि कुछ अंशों में महायानी बौद्ध सम्प्रदाय में ईश्वरवाद छिपे रूप में दिखाई देता है। परन्तु, यदि हम भारतीय दर्शन के आरंभिक लेखों पर ध्यान दें, तो हम उन्हें निरीश्वरवादी पायेंगे और इसे निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :

प्रायः 'ईश्वर' से सृष्टिकर्त्ता, पालक तथा संहारक का अर्थ लगाया जाता है। फिर उसे नीति का विधाता भी स्वीकारा जाता है। अतः, ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, जगन्नियन्ता तथा कर्म-फलदाता माना जाता है। ईश्वर के इस प्रत्यय की पर्याप्त आलोचना बौद्ध, जैन, मीमांसकों ने की है। परन्तु यदि भारतीय दर्शनों के बीजरूप पर ध्यान दिया जाय, तो इनमें तर्कसंगत रीति ईश्वर-प्रत्यय की उसी प्रकार आवश्यकता नहीं होती है, जिस प्रकार लैपलेस को विश्वयांत्रिकी में ईश्वर को स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम दी थी। नास्तिक वर्णन (चार्वाक, जैन और बौद्ध) में ईश्वर का स्थान नहीं स्वीकार किया गया है। इन नास्तिक दर्शनों में ईश्वरवाद का खंडन करके निरीश्वरवाद को स्थापित किया गया है। परन्तु, निरीश्वरवाद आस्तिक दर्शनों की पूर्वलेखनी में भी स्पष्टतया सिद्ध होता है। यह बात आस्तिक दर्शनों की प्रारंभिक रचना पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाती है। सांख्यदर्शन में मुक्ति प्राप्त करने के लिए जीव को पुरुष-प्रकृति के भेद का ज्ञान होना चाहिए। जब जीव को यह दृष्टि हो जायगी कि प्रकृति चैतन्यहीन है और जीव चेतन है, तब इस विवेक ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर जीव बंधन से मुक्त हो जायगा। अतः, मुक्तिप्राप्ति के लिये व्यक्त-अव्यक्त का ज्ञान चाहिये, न कि ईश्वर की कृपा। मुक्तिप्राप्ति में, सृष्टि की रचना एवं व्यवस्थित संचालन में तथा प्रलय के होने में ईश्वर की कहीं भी आवश्यकता नहीं होती। बल्कि कपिल को निरीश्वरवादी ही नहीं, वरन् उन्हें जड़वादी तथा स्वभाववादी (नेचरलिस्ट) भी कहा जा

मतैक्य हो गया है कि सिन्धुतट-सभ्यता में शिव भगवान की ही पूजा होती थी। अतः,

(क) ध्यान-योग अथवा समाधि की परम्परा अति प्राचीन है और इसे अवैदिक तथा अनार्य भी स्वीकारा जा सकता है।

(ख) साथ-ही-साथ देवियों की उपस्थिति से यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि देवी-देवताओं की पूजा भी इस सिन्धुतट-सभ्यता की अपनी देन है।

(ग) भक्ति और समाधि दोनों में अहंभाव का विलयन होता है और ऐसा आभासित होता है कि समाधि के साथ भक्ति को भी अनार्य मानना पड़ेगा।

(घ) चूँकि समाधि के द्वारा मानव अपने ही प्रयास से मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसलिये समाधिमूलक धर्मों को मानवतावादी कहा गया है। तर्कसंगत रीति से समाधिमूलक धर्मों में या तो ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं होती या ईश्वर का स्थान गौण रहता है।

धर्मों के इतिहास से स्पष्ट होता है कि देवी-देवता की पूजा प्रारम्भ काल में होती है और बाद में ज्ञान-वृद्धि के साथ एकेश्वरवाद का विकास होता है। निरीश्वरवाद तथा मानवतावाद तो धर्म-दर्शन का अन्तिम क्रम कहा जा सकता है। परन्तु, आश्चर्य मालूम देता है कि २००० वर्ष पूर्व भारत में (क) और (ख) देखने में आता है। भारतीय धर्म-दर्शन में निरीश्वरवाद उग्र रूप में दिखाई देता है। संभवतः यह निरीश्वरवाद विशेषतया शिक्षित तथा मनीषियों तक तर्कबौद्धिक रूप में ही सीमित था और जनता के बीच (ख) और (ग) का ही विशेष प्रचार था। यही कारण है कि समाधिमूलक धर्मों के प्रति शिथिलता हो जाने पर या स्वयं इन्हीं धर्मों में लोकप्रिय धर्मों का प्रचार होने पर मध्यकालीन भारत में ईश्वरवाद का प्रचार बढ़ गया। चूँकि बाद में चल कर हिन्दुत्व का सम्पर्क विशेष रूप से इस्लाम और ईसाई धर्म के साथ बढ़ गया, चूँकि इस सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दुत्व के ईश्वरवाद को प्रोत्साहन मिला, इसलिये भारतीयों में भ्रांतिपूर्ण धारणा बन गई है कि भारतीय धर्म-दर्शन ईश्वरवादी रहा है। जहाँ तक लिखित दर्शनों की बात है, यह स्वीकारना होगा कि आदिकालीन भारतीय धर्म-दर्शन विशेषकर निरीश्वरवादी रहा है और ईश्वरवादी परम्परा की प्रमुखता मध्ययुग के बाद बढ़ी है। भारतीय धर्म-दर्शन

को ईश्वरवादी समझने की भ्रान्ति का मुख्य कारण है कि भारतीय निरीश्वर-वाद जड़वादी नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक है। जैन, बौद्ध, मीमांसा तथा अन्य निरीश्वरवादी मानव के पारलौकिक लक्ष्य में विश्वास रखते आये हैं और चूँकि ईश्वरवाद पारलौकिकता के साथ-साथ पाया जाता है, इसलिये लोगों को भ्रम हो गया है कि भारतीय धर्म-दर्शन ईश्वरवादी है। फिर समकालीन पाश्चात्य निरीश्वरवाद जड़वादी तथा ऐहिक एवं मानवतावादी है। इसलिए लोगों का यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि अध्यात्मवादी जैन, बौद्ध, शांकर मत इत्यादि को निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता है। पुनः, यह भी सत्य है कि कुछ अंशों में महायानी बौद्ध सम्प्रदाय में ईश्वरवाद छिपे रूप में दिखाई देता है। परन्तु, यदि हम भारतीय दर्शन के आरंभिक लेखों पर ध्यान दें, तो हम उन्हें निरीश्वरवादी पायेंगे और इसे निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है:

प्रायः 'ईश्वर' से सृष्टिकर्त्ता, पालक तथा संहारक का अर्थ लगाया जाता है। फिर उसे नीति का विधाता भी स्वीकारा जाता है। अतः, ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, जगन्नियन्ता तथा कर्म-फलदाता माना जाता है। ईश्वर के इस प्रत्यय की पर्याप्त आलोचना बौद्ध, जैन, मीमांसकों ने की है। परन्तु यदि भारतीय दर्शनों के बीजरूप पर ध्यान दिया जाय, तो इनमें तर्कसंगत रीति ईश्वर-प्रत्यय की उसी प्रकार आवश्यकता नहीं होती है, जिस प्रकार लैपलेस को विश्वयांत्रिकी में ईश्वर को स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम दी थी। नास्तिक वर्णन (चार्वाक, जैन और बौद्ध) में ईश्वर का स्थान नहीं स्वीकार किया गया है। इन नास्तिक दर्शनों में ईश्वरवाद का खंडन करके निरीश्वरवाद को स्थापित किया गया है। परन्तु, निरीश्वरवाद आस्तिक दर्शनों की पूर्वलेखनी में भी स्पष्टतया सिद्ध होता है। यह बात आस्तिक दर्शनों की प्रारंभिक रचना पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाती है। सांख्यदर्शन में मुक्ति प्राप्त करने के लिए जीव को पुरुष-प्रकृति के भेद का ज्ञान होना चाहिए। जब जीव को यह दृष्टि हो जायगी कि प्रकृति चैतन्यहीन है और जीव चेतन है, तब इस विवेक ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर जीव बंधन से मुक्त हो जायगा। अतः, मुक्तिप्राप्ति के लिये व्यक्त-अव्यक्त का ज्ञान चाहिये, न कि ईश्वर की कृपा। मुक्तिप्राप्ति में, सृष्टि की रचना एवं व्यवस्थित संचालन में तथा प्रलय के होने में ईश्वर की कहीं भी आवश्यकता नहीं होती। बल्कि कपिल को निरीश्वरवादी ही नहीं, वरन् उन्हें जड़वादी तथा स्वभाववादी (नेचरलिस्ट) भी कहा जा

सकता है। कपिल ने अपने सांख्यदर्शन में ईश्वर को अनावश्यक ही समझा है। सांख्यदर्शन के साथ योग का भी नाम जोड़ा जाता है। परन्तु, योगदर्शन में भी तर्कसंगत रीति से ईश्वर का स्थान नहीं आता है। पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है, जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

मध्ययुगी न्याय वैशेषिक दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व के लिए विशेष रूप में मुक्ति प्रस्तुत की गई है। परन्तु, न्यायदर्शन के प्रवर्त्तक गौतम ने केवल एक ही स्थल पर 'ईश्वर' शब्द का व्यवहार किया है और उसका भी अर्थ स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता है। फिर वैशेषिक दर्शन में भी 'ईश्वर' शब्द को आनुषंगिक संदर्भ में ही प्रयुक्त किया गया है। वास्तव में प्रभा प्राप्त करने के लिये न्याय के अनुसार अनुमान की सहायता ली जा सकती है। परन्तु, जब तक व्याप्ति 'दृष्टान्त' पर निर्भर न हो, तब तक उस व्याप्ति को वैध नहीं स्वीकारा जायगा। परन्तु, अगोचर ईश्वर को प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं माना जा सकता है। इसलिए ईश्वर के प्रसंग में किसी भी वैध व्याप्ति के आधार पर न्यायसंगत निष्कर्ष नहीं स्थापित किया जा सकता है। बात सच्ची यह है कि अनुभववादी न्यायशास्त्र में ईश्वर का स्थान न्यायसंगत रीति से नहीं स्थिर किया जा सकता है। उसी प्रकार न्यायसंगत रूप में परमाणुवादी वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का स्थान नहीं है। वास्तव में न्यायवैशेषिक दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को बनावटी प्रकार से स्थिर किया गया है। चूँकि परमाणु एक-दूसरे से स्वतन्त्र तथा निरवयव हैं, इसलिए तर्कसंगत रीति से उन्हें मिलाया नहीं जा सकता है और बिना उन्हें जोड़े हुए विश्व की रचना नहीं हो सकती है। इसलिये न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं को संयोजित करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु, जो बात तर्कसंगत रीति से संभव नहीं है, उसे ईश्वर किस प्रकार सम्पादित कर सकता है? यदि निरवयव परमाणु संयोजित नहीं हो सकते हैं, तो ईश्वर किस प्रकार से निरवयव को 'सावयव' करके संयोजित कर सकता है? वास्तव में उपास्य ईश्वर अपरिमित, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सृष्टिकर्त्ता समझा जाता है और सृष्टिकर्त्ता वह है, जो बिना किसी पूर्वस्थित उपादान तथा सामग्री के, अपने ही सामर्थ्य से विश्व की रचना करता है। परन्तु, न्यायवैशेषिक दर्शन में ईश्वर को उत्पादक नहीं माना जाता है। इसके अनुसार परमाणु, आकाश इत्यादि नित्य द्रव्य हैं और इन्हीं सामग्रियों के आधार पर ईश्वर विश्व की रचना उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कुम्हार पूर्वस्थित मिट्टी से घट का निर्माण करता

है। अतः, न्यायवैशेषिक दर्शन में ईश्वर को निमित्त कारण कहा गया है। परन्तु, निमित्त कारण पूर्ववर्ती उपादान अथवा सामग्री से नियंत्रित कहा जायगा। ऐसे ईश्वर को सर्वशक्तिमान उत्पादक अथवा 'सृष्टिकर्त्ता' नहीं पुकारा जायगा। अतः, न्यायवैशेषिक दर्शन में वास्तव में सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का स्थान नहीं पाया जाता है। अन्त में, नास्तिक और आस्तिक सभी भारतीय दर्शन में मुक्ति-प्राप्ति को मानव का एकमात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु, न्यायदर्शन में यदि सोलह पदार्थ (प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, अल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छत्र, जाति और निग्रह-स्थान) का ज्ञान हो जाय या वैशेषिक दर्शन के अनुसार यदि छह पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) का आनुभविक ज्ञान हो जाय, तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अतः, मोक्षप्राप्ति में भी ईश्वर का हाथ कहीं नहीं पाया जाता है। इसलिये यदि प्रारंभिक न्यायवैशेषिक दर्शन का अध्ययन किया जाय, तो इसे निरीश्वरवादी तथा स्वभाववादी ही माना जायगा।

पूर्वमीमांसा को सभी भारतीय दार्शनिक निरीश्वरवादी मानते आये हैं। जैमिनि, शबर, प्रभाकर तथा कुमारिल भट्ट ने ईश्वर-सम्बन्धी प्रमाणों को विस्तारपूर्वक खंडित किया है और सिद्ध किया है कि ईश्वर न तो सृष्टिकर्त्ता हो सकता है और न जगन्नियन्ता। पर, क्या वैदिक देवी-देवता भी सत्य नहीं हैं? मीमांसकों ने बताया है कि यज्ञ-कर्म ही प्रधान हैं। देवी-देवता केवल गौण अस्तित्व हैं। मीमांसकों ने अर्थवाद को स्थापित कर बताया है कि देवता वास्तव में मंत्र-शब्द ही हैं और इन्हें व्यक्तित्वपूर्ण सत्ताएँ स्वीकारना बड़ी भारी भूल है। उनके अनुसार केवल अनुष्ठान से ही मुक्ति हो सकती है।

केवल अद्वैत वेदान्त में ईश्वर का हाथ आता है। परन्तु, शंकर के अनुसार सगुण ब्रह्म (ईश्वर) व्यावहारिक रूप से ही सत्य है। ईश्वरोपासना केवल साधनमात्र है। ईश्वर-कृपा से बुद्धि विमल एवं तीक्ष्ण हो जाती, वासनाएँ वश में चली आतीं और दिव्यदृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इन सब साधनों के फलस्वरूप अन्त में ब्रह्म-ज्ञान हो जाता और साधक निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अतः, ईश्वर अन्तिम रूप से सत्य नहीं है और फिर उसका भी अन्त में निर्गुण ब्रह्म में विलयन हो जाता है।

यह ठीक है कि रामानुज को भक्ति दार्शनिक मानना चाहिये और बिना ईश्वर को स्वीकार किये हुए भक्ति संभव नहीं मानी जायगी। परन्तु,

दार्शनिक दृष्टि से रामानुज ईश्वर के अस्तित्व में प्रस्तुत युक्तियों को निराधार मानते हैं। उनके लिये ईश्वर का अस्तित्व केवल श्रुति के ही आधार पर स्थापित किया जा सकता है। श्रुति आस्था का विषय है और इसे तार्किक दृष्टिकोण से असंतोषजनक आधार माना जायगा। अतः, दार्शनिक रीति के अनुसार रामानुज को भी ईश्वर-दार्शनिक नहीं कहा जा सकता है।

मध्ययुग के बाद हिन्दुत्व में ईश्वरवाद ने जड़ पकड़ा है और इसके भी अनेक दार्शनिक कारण बताये जा सकते हैं। परन्तु, इस लेख के प्रसंग में मेरा यह विषय नहीं है। मैं बताना चाहता हूँ कि विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के साथ ऐहिकता बढ़ती जायगी। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं रह जायगा, जहाँ पारलौकिक परमात्मा की आवश्यकता अनुभूत होगी। सूखा, बाढ़, संक्रामक रोग तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था इत्यादि के लिये ईश्वर की शायद ही अब लोगों को आवश्यकता महसूस होती है। यहाँ तक की मृत्यु-भय के प्रसंग में भी अब लोग ईश्वर की दुहाई नहीं देते हैं; क्योंकि मृत्यु अति साधारण घटना हो गई है। यही कारण है कि ईश्वर व्यक्तियों की भाँति पाश्चात्य भारतीयों के जीवन से भी ओझल होता जायगा और उसके स्थान पर मानवतावाद, समाजवाद, ऐहिकतावाद तथा विज्ञानवाद के साथ जड़वाद भी जड़ पकड़ता जायगा। क्या मानवतावाद, समाजवाद इत्यादि को धर्म-चिंतन का अन्तिम निचोड़ समझा जाय ?

विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण का अभ्यर्थन है कि लोगों की आस्था मानवतावाद, समाजवाद तथा ऐहिकतावाद में बढ़ती जाय। समाजवाद केवल सभी व्यक्तियों को नौकरी देकर जीविका का साधन ही नहीं प्रस्तुत करता है, बल्कि अवकाश को दिल बहलाने के अनेक साधनों के द्वारा मनोरंजनपूर्ण भी करने का प्रयास करता है। समाजवादी देशों में कोई भी व्यक्ति अनेक प्रकार की कलाओं, साहित्य, नाट्य, चित्रकारी, क्रीड़ा इत्यादि के द्वारा अपने अवकाश को बिता सकता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज-कार्य में अपने को बाह्यीकृत कर अपने व्यक्तित्व को पूर्ण करने का अवसर प्राप्त करता है। पर, क्या व्यक्ति आत्मपूर्णता सामाजिक कार्यो, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन आदि द्वारा प्राप्त कर सकता है ? क्या कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि जीवन का परम लक्ष्य यही है कि समाज-सेवाओं में निरत रह कर वह अपने जीवन को बिता दे ? इसमें संदेह नहीं कि अनेक ऐसे व्यक्ति हैं, जो जीवन को सार्थक मानने के लिये लोक-हिताय, लोक-सुखाय

सामाजिक अभियोजन कार्य को जीवन में स्थिरताप्राप्ति का एक मात्र चरम उद्देश्य समझते हैं। इसके विपरीत अनेक ऐसे भी मानवतावादी विचारक हैं, जो सोचते हैं कि समाज-अभियोजन प्राणमय तथा चेतनमय आत्मा के लिये आवश्यक है, परन्तु आनन्दमय आत्मा को इससे तुष्टि नहीं होती। समाज-कार्यों में आत्मा का वाह्यीकरण होता,……उसे अपने से अपने को विमुखी-करण अथवा भुलावे में डालने का साधन है, न कि आत्मपूर्णता का। आत्म-पूर्णता अहंभाव के विलयन, वासनाओं के उन्मूलन तथा आत्मविस्तारण से प्राप्त होती है। क्या ऐसी स्थिति में भारतीय परम्परा उपयोगी सिद्ध हो सकती है?

हमलोगों ने बताने का प्रयास किया है कि प्रारंभिक भारतीय धर्म-दर्शन निरीश्वरवादी मालूम देता है। परन्तु, यह निरीश्वरवाद जड़वादी न होकर अध्यात्मवादी रहा है। जैन कैवल्य-पद को प्राप्त करना चाहते, बौद्ध निर्वाण के आकांक्षी होते हैं, मीमांसक-न्याय-वैशेषिक मोक्ष प्राप्त करना चाहते और शांकर अद्वैतवादी ब्रह्मप्राप्ति का चरम लक्ष्य रखते हैं। कैवल्य, निर्वाण, मोक्ष तथा ब्रह्मप्राप्ति सभी अध्यात्मवादी लक्ष्य हैं और जिन्हें प्राप्त करने का मुख्य साधन ध्यान, समाधि तथा योग बताया गया है। ध्यान, समाधि तथा योग पूर्णतया वैज्ञानिक साधन हैं। चूँकि असत् से त्रस्त होकर मानव अपने को स्थिर नहीं कर पाता है, इसलिये वह देवी-देवता, समाजवाद, मानवतावाद इत्यादि के द्वारा सत् अर्थात् स्थिरता को प्राप्त करना चाहता है। चूँकि उपनिषद्, जैन, बौद्ध तथा शांकर अद्वैतवाद के युग में न तो सामाजिकी का और न तकनीकी का विकास हुआ था, इसलिये भारतीय मनीषियों के लिये संभव नहीं था कि वे सामन्तवाद का सामना कर समाजवाद की स्थापना करते। फिर विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के बिना सच्चा समाजवाद भी संभव नहीं हो पाता है। इसलिये जब भारतीय चिंतक समाज और प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की बात नहीं सोच पाये, तो उन्होंने आत्मविजय की बात सोची। वासनाओं के उन्मूलन तथा अहंभाव के विलयन एवं विस्तारण का उन्होने वैज्ञानिक विवेचन किया है। आज भी आधुनिक जीवन से त्रस्त एवं अशान्त व्यक्ति ध्यान, योग, समाधि द्वारा आत्मविजय कर उपेक्षाभाव को प्राप्त कर सकता है। उपेक्षाभाव समरस है, जिसमें हर्ष-विषाद बिखेरे होकर व्यक्ति जीवन के आघातों के रहने के बावजूद हिमालय पर्वत के समान अविचलित हो जाता है। ध्यान, समाधि में व्यक्ति केवल अपने ही प्रयास के आधार

पर, विना ईश्वर की आकांक्षा के अपने निःश्रेयस् को प्राप्त कर सकता है? अतः, मानवतावादी तथा निरीश्वरवादी आदि काल से प्रचारित भारतीय दर्शन अध्यात्मवादी है। मैं समझता हूँ कि यह भारतीय धार्मिक परम्परा शाश्वत् रहेगी। क्यों?

इसका कारण है कि विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के साथ अनुभववादी परिपाटी बढ़ेगी और अनुभववादी परम्परा में अगोचर, अशरीरी, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्त्ता तथा अपरिमित सत्ता का स्थान धूमिल होता जायगा। इसलिये समकालीन पाश्चात्य विचार से ईश्वर सम्प्रति ओझल होता जा रहा है। परन्तु, जब ईश्वर का स्थान क्षीण और गौण हो जायगा और जब समाजवाद, ऐहिकतावाद तथा अन्य प्रकार के मानवतावाद से लोगों को शांति नहीं मिलेगी तब निरीश्वरवादी, परन्तु मानवतावादी भारतीय अध्यात्मवाद से अशांत एवं विचलित मानव को उपेक्षामय चिरशांति प्राप्त हो सकेगी। क्या भारतीय चिंतन के प्रति भारतीयों का यह दुराग्रह है?

अन्तिम रूप से कोई भी दार्शनिक निष्कर्ष स्थिर नहीं स्वीकारा जा सकता है। मानव सत् और असत् के अन्तर्द्वन्द्व से विताड़ित होकर इनके बीच में झूल कर दोलायमान होता रहेगा। समाजवादी मानवतावाद के अनुसार विश्व अन्तिम वास्तविकता है, समाज-सेवा सभी मानव का अन्तिम नैतिक निःश्रेयस् है और लोकहित एवं लोककल्याण में जूझ मरना अन्तिम आहुति है। ठीक इसके विपरीत समाधिमूलक धर्म-दर्शन के अनुसार विश्व निःसार है, समाज-पराङ्मुखता आत्मप्राप्ति का प्रारंभिक पग है और अहंभाव का विलयन अन्तिम आहुति है। क्या समाज-सेवा करता हुआ फलों की कामना के प्रति उपेक्षाभाव को अपनाकर व्यक्ति रह सकता है? यदि जीवन का यह समन्वय प्राप्त हो सकता है तो निष्काम, अनासक्त रहता हुआ समाजवादी अभी और चिरकाल तक अपने जीवन में स्थिरता प्राप्त कर सकता है। समसामयिक निरीश्वरवादी अशांत मानव-जीवन के सुदूर क्षितिज में असत् और तिमिर को दूर करने के लिये मुझे यह आध्यात्मिक प्रकाश टिमटिमाता हुआ दीख रहा है।

२. धर्म का भविष्य

डॉ० एस० एस० शर्मा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र-विभाग,
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर ।

यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि वर्त्तमान युग विज्ञान का युग है। विज्ञान ने न केवल मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, बल्कि उसने मनुष्य के संस्कार, आचार-विचार, धारणा और चिन्तन-पद्धति को भी प्रभावित-परिवर्त्तित किया है। विज्ञान के अध्ययन का महत्त्व और उपयोगिता इतनी बढ़ी है कि धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि विषय नेपथ्य में चले गये हैं। कल तक जो स्थान और महत्ता इन विषयों को प्राप्त थी, वह आज विज्ञान को प्राप्त है। फलतः, धर्म आदि की महत्ता और उपयोगिता संदेहास्पद होती जा रही है। उसके महत्त्व के प्रति जो आस्था पिछले युगों में लोगों के बीच थी, उसे आज विज्ञान के आलोक ने छिन्न-भिन्न कर दिया है और लोग आस्था के विषय धर्म को, तर्क की तुला पर तौलने लगे हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रबुद्ध विचारकों के समक्ष धर्म के भविष्य और महत्त्व का प्रश्न ज्वलन्त रूप में प्रस्तुत होना स्वाभाविक ही है। आज के संदर्भ में धर्म की क्या उपयोगिता है ? धर्म का भविष्य क्या होगा ? यह प्रश्न हमारे समक्ष है। आइए, हम इस पर विचार करें।

इस प्रश्न पर विचार करते समय या इस समस्या का समाधान ढूँढ़ते समय अनायास कई अन्य प्रश्न उठ खड़े होते हैं और समस्या जटिल तथा उलझनपूर्ण बन जाती है। इस प्रश्न में केवल धर्म और विज्ञान का द्वन्द्व ही निहित नहीं है, बल्कि अनेक प्रतिपक्षी धार्मिक मतवादों के असंगत और अनुप-

युक्त दावे भी सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त लौकिक समाज विज्ञान के रूप में आचारशास्त्र का दावा भी कम नहीं है। वह भी अपने हितों की रक्षा के लिए द्वन्द्व के इस सार्वजनिक अखाड़े में उतर आया है।

इन सारी समस्याओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मानव-जीवन में धर्म के अस्तित्व को समझने के लिए इसमें (धर्म में) निहित मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय तत्त्वों को समझना पड़ेगा। इनके आधार पर ही हम निर्णय कर सकेंगे कि धर्म का मानव-जीवन में अस्तित्व आरोपित है या संस्कारगत। अगर यह आरोपित है, तो निश्चय ही मानव-जीवन इतने दिनों तक गलत ढंग से इसके भ्रमजाल में फँसा रहा। अब मानव-जीवन को इससे मुक्त हो जाना चाहिए। इस दृष्टि से अब न तो धर्म की कोई उपयोगिता है, न महत्ता और न कोई भविष्य ही।

किन्तु, अगर धर्म मानव-संस्कार की उपज है, तो मानना होगा कि यह मानव-अस्तित्व का अनिवार्य पहलू है और इसे जीवन से अलग करना कठिन है। विज्ञान के तीव्र आलोक की चकाचौंध में थोड़े दिनों के लिए इसकी आभा भले ही मलिन हो जाय, विज्ञान के बाजार में इसका मूल्य भले ही घट जाय, लेकिन अन्ततः इसकी उपयोगिता स्वतःसिद्ध है, इसका भविष्य असंदिग्ध है।

मनोविज्ञान के आधुनिक अनुसंधानों से स्पष्ट है कि धर्म का आधार मानव-प्रकृति है। दूसरे शब्दों में, धर्म के तत्त्व मानव-स्वभाव में निहित हैं और इसका कार्य मानव की बौद्धिक और भावनागत आवश्यकताओं को परितुष्ट करना है। धर्म के दीर्घकालीन समाजव्यापी अस्तित्व का रहस्य भी यही है कि वह मानव की उपर्युक्त दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को परितुष्ट करने में सक्षम रहा है। इसे थोड़ा स्पष्ट करने की आवश्यकता है। हम जानते हैं कि मनुष्य न्यूनाधिक मात्रा में सामाजिक और विवेकशील प्राणी है। उसकी कुछ मौलिक आवश्यकताएँ हैं। पशु-समूह का अंग होने के कारण वह भोजन, आवास, सुरक्षा, प्रजनन आदि की आवश्यकता अनुभव करता है और विवेक-सम्पन्नता के कारण पशु-समूह की आवश्यकताओं से आगे बढ़ कर भावनागत और बौद्धिक आवश्यकताएँ अनुभव करता है। इन भावनागत और बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप ही मानव-जीवन में कला, धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि की प्रतिष्ठा हुई है। दूसरे शब्दों में धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान आदि की रचना कर मनुष्य ने अपनी

बौद्धिक और भावनागत भूख या आवश्यकता की परितुष्टि की है। इसी को संस्कृत के निम्न श्लोक में थोड़े भिन्न रूप में कहा गया है :—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि
चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
धर्मं नरानां अधिको ही लोके;
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

स्वभाव से ही जिज्ञासु, मेधावी और समझदार होने के कारण मनुष्य अपने में प्रकृति तथा विश्व के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण निर्मित करने की आवश्यकता अनुभव करता है, ताकि वह विश्व को नियंत्रित करनेवाली शक्ति को अभियोजित कर उसे अपने उपयोग में ला सके। इसी तरह सामाजिक प्राणी होने के नाते वह नैतिक-विधान और आचार-संहिता की आवश्यकता अनुभव करता है, जिससे जीवन-व्यापार में कोई असुविधा न हो। धर्म और दर्शन के द्वारा मनुष्य के उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों की पूर्ति होती है। इसके द्वारा मनुष्य विश्वजनीन-दृष्टि और जीवन-पद्धति प्राप्त करता है। विषयान्तर होते हुए भी यहां थोड़ा रुक कर धर्म और दर्शन के पार्थक्य को स्पष्ट कर लेना कदाचित् अनुपयुक्त नहीं होगा। स्पष्ट है कि धर्म दर्शन नहीं है। दर्शन का जन्म व्यक्ति के चिन्तन से होता है। वह पूर्व परम्परा से प्राप्त चिन्तन-प्रणाली और दार्शनिक विचारों के आधार पर एक नवीन सिद्धान्त या दर्शन को प्रस्तुत करता है। ठीक इसके विपरीत व्यक्ति धर्म-विशेष में पैदा होता है और बढ़ने के साथ-साथ उस धर्म के मूल तत्त्वों को अनजाने ही अपने जीवन में उतारता चला जाता है। जब उसे ज्ञात होता है तब तक तो वह धर्म, जिसमें वह पैदा हुआ है, उसके संस्कार का अंग बन जाता है। धर्म मूलतः विश्वास और संस्कार पर आधारित होता है, जबकि दर्शन के मूल में तर्कप्रधान चिन्तन का बल होता है। यह भी ध्यातव्य है कि भिन्न-भिन्न धर्मों में संवेगों की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरण के लिए अपेक्षाकृत आदिम धर्मों में प्रकृति की रहस्यपूर्ण शक्तियों के प्रति भयमिश्रित आदर की भावना प्रधान होती है जबकि विकसित धर्मों में प्रेम, आदर, कृपा और चाह की भूमिका ही महत्त्वपूर्ण होती है।

धर्म-सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक व्यवस्था के विषय में मानव-प्रकृति के अध्येताओं में मतैक्य नहीं है। फ्रॉयड के अनुसार धार्मिक देवता स्थानापन्न

पिता है और धर्म इच्छित चिन्तन तथा भ्रामक व्यवस्था का उदाहरण। फ्रॉयड के मन्तव्यों को मानने वाले कुछ दूसरे लोगों के अनुसार धर्म तथा कलाएँ मानव की कतिपय इच्छाओं के उदात्त रूप हैं। दूसरे शब्दों में वे छद्म-रूप में उन मनोवेगों की अभिव्यक्ति है जो सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण अपने मूल रूप में सन्तुष्ट नहीं हो पाये हैं। फिर भी युंग आदि फ्रॉयड के अनुयायियों की धर्मविषयक धारणा उदार और सहानुभूतिपूर्ण है।

चूँकि फ्रॉयड इस युग में धर्म के सबसे बड़े आलोचक माने जाते हैं, अतः उनके विचारों को थोड़े विस्तार से जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है। फ्रॉयड धर्म को वर्तमान संस्कृति और जीवन को प्रभावित करने वाला निश्चित तत्त्व नहीं मानते हैं। जिस तरह फ्यूररबैक ने माना है कि मनुष्य किसी वस्तु पर अपनी इच्छाओं का आरोपण करता है और इस दृष्टि से धर्म मनुष्य के इच्छा-जगत् और देवता उसकी इच्छाओं के साकार रूप हैं, उसी तरह फ्रॉयड का धर्म-सम्बन्धी आरोपण-सिद्धान्त धार्मिक अनुभूति को आरोपित मानता है। धार्मिक अनुभूति को आरोपित मान कर फ्रॉयड उसकी वस्तुपरकता और प्रयोग-सिद्ध प्रकृति को अस्वीकार कर देता है। इस तरह धर्म की अपनी प्रामाणिकता समाप्त हो जाती है और आरोपण धार्मिक विश्वासों के निर्माण का प्रमुख तन्त्र सिद्ध होता है। इस आरोपण-तन्त्र को स्वीकार करने के कारण फ्रॉयड इस तथ्य को अस्वीकार कर देता है कि धर्म से मुक्ति, प्रेम, सन्तोष और शक्ति का तात्कालिक आश्वासन प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में धर्म सुरक्षात्मक व्यवहार का मनोवैज्ञानिक रूप है और उसका अनुभवसिद्ध रूप जो उसका विशिष्ट और गुणात्मक भाव है—भ्रामक है।

इस आरोपमूलक धर्म के विरुद्ध यह बात ज्ञातव्य है कि यह धार्मिक अनुभूतियों का लौकिक रूप-मात्र है तथा इसे धर्म के सम्बन्ध में चर्चा का मनोवैज्ञानिक तरीका-मात्र माना जा सकता है, जिसमें विवाद के लिए पर्याप्त स्थान है। यह मूलतः धर्म के सम्बन्ध में प्रेषणीयता का सिद्धान्त है। आरोपण चूँकि विमर्श का विषय-मात्र है, अतः इसमें धार्मिक अनुभूतियों को उत्पादित करने की क्षमता नहीं है।

धार्मिक जगत् को इच्छा का संसार मानने की फ्रॉयड की धारणा प्रकृत्या इम्पीरियोजेनिक (Empiriogenic) की अपेक्षा मेथोजेनिक (Methogenic) अधिक है। धार्मिक अनुभूति को आरोपित मान लेने पर उसके सम्बन्ध में

समग्रत: कोई उत्तरदायित्वपूर्ण धारणा नहीं बन पाती है। एक पवित्र और प्रतिबद्ध आत्मा के अस्तित्व एवं उसके समस्त क्रिया-व्यापार को, जिन्हें हम धार्मिक अनुभूति कहते हैं, मात्र मनोवैज्ञानिक पद्धति से सही-सही नहीं समझा जा सकता है। धार्मिक अनुभूति की स्वायत्तता और विशिष्टता को अस्वीकार करने पर स्वत: मनोविश्लेषण के पास एतद्विषयक कोई ठोस आधार कार्य करने के लिए नहीं रह जाता। यहाँ यह भी विचारणीय है कि यदि आरोपित दृष्टि से संसार यथावत् नहीं होकर इच्छानिर्मित है, तब किस दृष्टि से और किस अर्थ में उत्तरदायित्वों की धारणा को आरोपण से जोड़ा जा सकता है? इच्छाओं के आरोपण और उत्तरदायित्वों में वास्तविक सम्बन्ध क्या है? क्योंकि ईश्वर को वास्तविक मान लेने पर फ्रॉयड के सिद्धांत में उत्तरदायित्व-जैसी कोई चीज नहीं रह जाती। ऐसी दशा में ईश्वर-सम्बन्धी हमारे सभी संस्कार आरोपित-मात्र होंगे और इस आरोपण से श्रेष्ठ कोई वस्तु ही नहीं होगी, ईश्वर भी नहीं।

मगर मनुष्य केवल आरोपण पर निर्भर नहीं रह सकता। कारण, आरोपण का क्षेत्र शुद्ध रूप से प्रतीकों का क्षेत्र है, जिसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। धार्मिकों के अनुसार प्रतीक अपने से परे यथार्थ को संकेतित करता है। लेकिन, फ्रॉयड के सिद्धांत में ऐसा नहीं है। अत:, धर्म के प्रति आरोपित दृष्टिकोण रखने पर मनुष्य सभी प्रकार के पवित्र और दैवी दायित्वों से मुक्त हो जाता है।

यहीं रुक कर हम धर्मविषयक एक भ्रान्ति का निराकरण करना चाहेंगे। कुछ लोगों के अनुसार विकास और धर्म परस्परविरोधी हैं। हमारी समझ से यह भ्रान्त धारणा है। सच तो यह है कि धर्म विकासवाद का समर्थन करता है। बल्कि यों कहें कि धर्म विकासवाद को पुष्ट करने का सबल प्रमाण है। आखिर विकास है क्या? सामान्य अर्थ में किसी प्रकार की प्रगति को विकास कहते हैं। तो धर्म भी प्रगतिशील है। इसने भी विकास की कई मंजिलें पार की हैं। मानव-जीवन के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मैक्समूलर के अनुसार तो मनुष्य का सही इतिहास धर्म का इतिहास ही है। अत:, धर्म के विकासहीन जड़ अस्तित्व को मानना गलत है। मानव का धर्मविषयक दृष्टिकोण सदा एक-सा नहीं रहा है। आरंभिक स्थिति में जादू-टोने पर विश्वास करने वाले फेटिसिज्म से लेकर

बहुदेवतावाद और फिर एकेश्वरवाद तक धर्म का विकास सिद्ध करता है कि मनुष्य की धर्मविषयक धारणा बदलती रही है। यद्यपि धर्म के इतिहास में एकेश्वरवाद बाद में आया, लेकिन इसका उदय आकस्मिक रूप से नहीं हुआ। वहुदेवात्मक जातिवाद के शिथिल रूप से लेकर अपेक्षाकृत समाहारात्मक राष्ट्रवाद तक आने के क्रम में मध्यवर्त्ती कड़ी के रूप में एक धार्मिक, सामाजिक विकास हुआ है, जो होनोथेइज्म कहलाता है। इसमें समाज देवताओं की विविधता को स्वीकार करता है, जिसमें अमुक देवता अमुक जाति में पूजित है, तो अमुक देवता अमुक जाति में। किन्तु, इन सबके ऊपर एक सर्वोपरि देवता है, जिसे सभी जातियों को पूजना चाहिए। बाद में यही सर्वोपरि देव एकमात्र पूज्य देव बन गए और एकेश्वरवाद का उदय हुआ। इस तरह धर्म की विकासशीलता सिद्ध करती है कि यह मानव-जीवन का अभिन्न अंग है और सभ्यता, संस्कृति, भाषा आदि की तरह यह भी मानव की इच्छा-आकांक्षा के अनुरूप विकसित होकर अपने को उसके अनुकूल सिद्ध करता रहा है।

धर्म के प्रति ऐसा ही विरोधमूलक दृष्टिकोण मार्क्सवादियों का है। मार्क्स का मत है कि धर्म मानव जाति के लिए ऐसी अफीम है, जो उसके मस्तिष्क को अनन्तकालीन मूर्च्छा में रखता है और उसके दिलो-दिमाग को आच्छादित कर देता है। यह लोगों के संसारविषयक दृष्टिकोण को तोड़-मरोड़ कर विकृत बना देता है। यह संसार के दुर्भाग्य और दुर्भाग्य के प्रति विरोध दोनों है। उसके अनुसार मनुष्य प्रथमतः अपने प्रति उत्तरदायी है, फिर समुदाय के प्रति। ईश्वर के प्रति उसका कोई दायित्व नहीं है। ऐंजिल्स के कथन में भी यही स्थिति प्राप्त होती है। वह कहता है—धर्म और कुछ नहीं, केवल मनुष्य के दैनिक जीवन को नियंत्रित करनेवाली वाह्य शक्तियों का काल्पनिक परावर्त्तन है। एक ऐसा परावर्त्तन, जिसमें लौकिक शक्तियाँ अलौकिक शक्तियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। यह परावर्त्तन मनुष्य की सैद्धान्तिक मेधा की उपज है और काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ से ज्यादा प्रभावशाली है। लेनिन के अनुसार धर्म निम्न मजदूर वर्ग (सर्वहारा) को सभी कष्ट सहने के लिए प्रेरित करता है, इस विश्वास के आधार पर कि यहाँ अभाव सह लेने पर यहाँ के बाद अर्थात् परलोक में अवश्य सुख मिलेगा। शोषकों के साथ होने वाले अपने संघर्ष में असफल होकर ये लोग इस विश्वास से जीने लगते हैं कि यहाँ नहीं तो मरने के बाद अवश्य अच्छी दशा प्राप्त होगी—स्वर्ग मिलेगा। प्रकृति से संघर्ष करती

आदिम जातियों की असहायावस्था ने उसके मन में देवता, शैतान, चमत्कार आदि के प्रति इसी प्रकार विश्वास पैदा किया था। इस तरह धर्म के द्वारा समाज की आर्थिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य का जीवन मानवता के नैसर्गिक सौन्दर्य में ही सन्तुष्ट होना चाहिए, किसी अतिप्राकृतिक तत्त्व के आधार पर नहीं। मनुष्य की इस अति-प्राकृतिक मनोदशा में परिवर्तन अपेक्षित है। वर्त्तमान स्थिति में धर्म जीवन-दशा और संस्कार को परिवर्त्तित करने में अक्षम है; क्योंकि इसकी रूढ़िवादी प्रकृति वर्त्तमान वर्ग-संरचना की यथावत् स्थिति की रक्षा करती है। इस तरह मार्क्स सभी अतिप्राकृतिक मूल्यों और धार्मिक अनुभूतियों को नकारते हुए इसके स्थान पर धर्मनिरपेक्ष स्थिति लाना चाहता है। उसकी दृष्टि में धार्मिक विचार स्वतः कोई अर्थ नहीं रखते। उनका अभिप्राय आर्थिक दशा से निरूपित होता है। धार्मिक विधान के सभी स्वाभाविक सन्दर्भ और मूल्य द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर अस्वीकृत हो जाते हैं और केवल साम्यवाद ही मनुष्य को सही मूल्य तथा विवेकशील समाज को प्रेरणा देने में सक्षम सिद्ध होता है।

यह ज्ञातव्य है कि मार्क्सवादी समीक्षक धर्म की प्रकृति और उसके निश्चित उद्देश्य को कम करके देखते हैं। मार्क्स धर्म को इसलिए अवहेलित करता है कि इससे एक ओर सभ्यता के क्षेत्र में साम्प्रदायिक संघर्ष और सम्प्रदायवादी धारणा को बढ़ावा मिलता है और दूसरी ओर सांस्कृतिक एकता बढ़ने के बदले सांस्कृतिक क्रियाकलाप विघटित होते हैं।

लेकिन, मानना होगा कि धार्मिक अनुभूतियों के दो अनुपेक्षणीय गुण हैं। प्रथम, यह कि धार्मिक अनुभूति एक स्वतंत्र अनुभूति है—मिश्रित या आश्रित अनुभूति नहीं। दूसरे, मनुष्य की विशिष्ट अनुभूतियों से इसका सहज सम्बन्ध है। यह इसकी महत्ता और उपयोगिता का प्रमाण है। मार्क्स ने पूर्वग्रह से ग्रस्त हो कर अनुपयुक्त ढंग से इसके दावे को अस्वीकृत करते हुए यह सिद्ध करना चाहा है कि धार्मिक अनुभूतियाँ प्रकृति से गौण अस्तित्व वाली हैं और क्रिया से माध्यमिक हैं। इनका कोई अपना अर्थ और सन्दर्भ नहीं है। ये इतिहास की उत्पादक शक्तियों का परावर्त्तन-मात्र हैं। मार्क्स ने धार्मिक अनुभूतियों के उस पक्ष के साथ भी न्याय नहीं किया है, जहाँ दूसरे सांस्कृतिक

कार्यकलापों से सम्बद्ध होने के कारण धार्मिक अनुभूतियाँ, कई अन्य मानवीय अनुभूतियों को अलग करती हैं। उसने धर्म को लौकिक बनाने, राजनीति और अर्थशास्त्र का उप-विभाग मानने और इन्हीं की उत्पादक शक्ति का परिणाम मानने के कारण इसे पुराण-कथा की कोटि में स्थान दिया है। धर्म का यह लौकिक रूप भी इस अर्थ में अपकृष्ट है कि दूसरी मानवीय अनुभूतियों से इसका विच्छेदक सम्बन्ध काल्पनिक होने के कारण समाप्त हो जाता है। मार्क्स ने फ्रॉयड की तरह धर्म को भीतर से समझने की चेष्टा नहीं की है, यहाँ तक कि उसके लौकिक सन्दर्भ को भी। इसीलिए वे भी फ्रॉयड की भाँति धर्म के साथ न्याय नहीं कर पाये हैं।

तात्पर्य यह कि वर्त्तमान युग में विज्ञान, कला और आचारशास्त्र आदि को जानबूझ कर धर्म और धार्मिक पुरोहिताई के नियंत्रण से मुक्त किया गया है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति व्यावहारिक जीवन, उद्योग, व्यवसाय और राजनीति में भी मिलती है। उदाहरणार्थ अब लोग यह सोचते हैं कि औद्योगिक जीवन पूर्णतः आर्थिक विधानों से नियंत्रित है और इसके अधिकार-क्षेत्र में धर्म के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उसका क्षेत्र भिन्न है।

तब प्रश्न है कि अलौकिक को लौकिक से विलग करने की यह क्रिया कहाँ तक जायगी? हमारा अनुभव है कि लौकिकता की एकछत्रता बहुत दूर तक संभव नहीं है। इसे अन्तिम और निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। अन्तर का अर्थ सर्वथा विलगाव न है और न कभी हो सकता है। यह केवल सापेक्षिक और सामयिक ही हो सकता है। धर्म कोई संकुचित प्रणाली नहीं है। यह न तो अनेक वस्तुओं में रहने वाली एक वस्तु है और न दूसरे पदों के साथ-साथ रहने वाला कोई पद। यह तो उपखंडों में सम्पूर्ण का दर्शन है, जीवन के क्रियाकलापों और आन्तरिक शक्तियों को शुद्ध करने तथा प्रौढ़ बनाने वाला तत्त्व है। धर्म के आलोक में मनुष्य अपने लौकिक जीवन का पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन करता है। इस मूल्यांकन में उसके व्यवसाय और जीवन-यापन का साधन भी सम्मिलित है। इस दृष्टि से देखें, तो धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं सिद्ध होता। बल्कि यह कहना बेहतर है कि विज्ञान, कला, दर्शन आदि ने धर्म की प्रगति में योगदान दिया है। यदि धर्म में ऐसी प्रगतिशील दृष्टि न हो, तो वह सभी नवीन मूल्यों को अपने में आत्मसात् करने में सक्षम नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टि से धर्म को इसी रूप में देखा गया है। वैशेषिकदर्शन में उसकी परिभाषा देते हुए कहा गया

है—"यतो अभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धि ततो धर्मः।" अभ्युदय में आत्मोन्नति सहित समस्त पारलौकिक सिद्धियों और सुखों का अर्थ समाहित है। दूसरे शब्दों में धर्म वह है, जिससे लौकिक और पारलौकिक सभी विभूतियों की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, भारतीय दृष्टि धर्म को जीवनधार पुरुषार्थों में से एक पुरुषार्थ मानती है। अतः, भारतीय दृष्टि से धर्म की अर्थगत व्याप्ति लौकिक से पारलौकिक सिद्धियों तक फैली है। उसमें व्यक्ति और समाज, राजनीति और अर्थशास्त्र सब का समावेश हो जाता है। इस अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए न्यूनाधिक मात्रा में आचरण की पवित्रता, मानवतावादी उदात्त दृष्टि और लोकशास्त्र-सम्मत विधिनिषेधों का पालन आवश्यक माना गया है।

निष्कर्षतः धर्म एक स्वायत्त वस्तु है जो राजनीति, अर्थशास्त्र या किसी ऐसे लौकिक अनुशासनों से विस्थापित नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अकेले धर्म उन सभी अच्छाइयों को देने में सक्षम है, जो इतर साधनों को समग्रतः ग्रहण करने से व्यक्ति को प्राप्त होती हैं।

इस तरह हमने संक्षेप में धर्मविषयक धारणाओं, आक्षेपों और आपत्तियों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धार्मिक अनुभूतियाँ शाश्वत

कार्यकलापों से सम्बद्ध होने के कारण धार्मिक अनुभूतियाँ, कई अन्य मानवीय अनुभूतियों को अलग करती हैं। उसने धर्म को लौकिक बनाने, राजनीति और अर्थशास्त्र का उप-विभाग मानने और इन्हीं की उत्पादक शक्ति का परिणाम मानने के कारण इसे पुराण-कथा की कोटि में स्थान दिया है। धर्म का यह लौकिक रूप भी इस अर्थ में अपकृष्ट है कि दूसरी मानवीय अनुभूतियों से इसका विच्छेदक सम्बन्ध काल्पनिक होने के कारण समाप्त हो जाता है। मार्क्स ने फ्रॉयड की तरह धर्म को भीतर से समझने की चेष्टा नहीं की है, यहाँ तक कि उसके लौकिक सन्दर्भ को भी। इसीलिए वे भी फ्रॉयड की भाँति धर्म के साथ न्याय नहीं कर पाये हैं।

तात्पर्य यह कि वर्त्तमान युग में विज्ञान, कला और आचारशास्त्र आदि को जानबूझ कर धर्म और धार्मिक पुरोहिताई के नियंत्रण से मुक्त किया गया है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति व्यावहारिक जीवन, उद्योग, व्यवसाय और राजनीति में भी मिलती है। उदाहरणार्थ अब लोग यह सोचते हैं कि औद्योगिक जीवन पूर्णतः आर्थिक विधानों से नियंत्रित है और इसके अधिकार-क्षेत्र में धर्म के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता नही है; क्योंकि उसका क्षेत्र भिन्न है।

तब प्रश्न है कि अलौकिक को लौकिक से विलग करने की यह क्रिया कहाँ तक जायगी ? हमारा अनुभव है कि लौकिकता की एकछत्रता बहुत दूर तक संभव नहीं है। इसे अन्तिम और निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। अन्तर का अर्थ सर्वथा विलगाव न है और न कभी हो सकता है। यह केवल सापेक्षिक और सामयिक ही हो सकता है। धर्म कोई संकुचित प्रणाली नहीं है। यह न तो अनेक वस्तुओं में रहने वाली एक वस्तु है और न दूसरे पदों के साथ-साथ रहने वाला कोई पद। यह तो उपखंडों में सम्पूर्ण का दर्शन है, जीवन के क्रियाकलापों और आन्तरिक शक्तियों को शुद्ध करने तथा प्रौढ़ बनाने वाला तत्त्व है। धर्म के आलोक में मनुष्य अपने लौकिक जीवन का पुनराख्यान और पुनर्मूल्यांकन करता है। इस मूल्यांकन में उसके व्यवसाय और जीवन-यापन का साधन भी सम्मिलित है। इस दृष्टि से देखें, तो धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं सिद्ध होता। वल्कि यह कहना वेहतर है कि विज्ञान, कला, दर्शन आदि ने धर्म की प्रगति में योगदान दिया है। यदि धर्म में ऐसी प्रगतिशील दृष्टि न हो, तो वह सभी नवीन मूल्यों को अपने में आत्मसात् करने में सक्षम नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टि से धर्म को इसी रूप में देखा गया है। वैशेषिकदर्शन में उसकी परिभाषा देते हुए कहा गया

है—"यतो अभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धि ततो धर्मः।" अभ्युदय में आत्मोन्नति सहित समस्त पारलौकिक सिद्धियों और सुखों का अर्थ समाहित है। दूसरे शब्दों में धर्म वह है, जिससे लौकिक और पारलौकिक सभी विभूतियों की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, भारतीय दृष्टि धर्म को जीवनधार पुरुषार्थों में से एक पुरुषार्थ मानती है। अतः, भारतीय दृष्टि से धर्म की अर्थगत व्याप्ति लौकिक से पारलौकिक सिद्धियों तक फैली है। उसमें व्यक्ति और समाज, राजनीति और अर्थशास्त्र सब का समावेश हो जाता है। इस अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए न्यूनाधिक मात्रा में आचरण की पवित्रता, मानवतावादी उदात्त दृष्टि और लोकशास्त्र-सम्मत विधिनिषेधों का पालन आवश्यक माना गया है।

निष्कर्षतः धर्म एक स्वायत्त वस्तु है जो राजनीति, अर्थशास्त्र या किसी ऐसे लौकिक अनुशासनों से विस्थापित नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अकेले धर्म उन सभी अच्छाइयों को देने में सक्षम है, जो इतर साधनों को समग्रतः ग्रहण करने से व्यक्ति को प्राप्त होती हैं।

इस तरह हमने संक्षेप में धर्मविषयक धारणाओं, आक्षेपों और आपत्तियों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धार्मिक अनुभूतियाँ शाश्वत हैं; क्योंकि ये मानव-स्वभाव में बद्धमूल हैं। इसका प्रभाव घटने के बदले मानवता के अस्तित्व तक बना रहेगा; क्योंकि धर्म की स्वीकृति का अर्थ और मूल्य समाप्त होने वाला नहीं है। साथ ही यह मानना भी गलत है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सभी सही मूल्य मानव को दे सकता है। विज्ञान विश्व का व्याकरणिक या संरचनात्मक ज्ञान दे सकता है, उसके आंतरिक मूल्य को समझाना उसके बूते के बाहर की बात है। जिस तरह मनुष्य का समग्र अस्तित्व एक गाणितिक सूत्र में निरूपित नहीं किया जा सकता, उसी तरह सभी के हितों की रक्षा बिना धार्मिक क्रियाकलापों के नहीं हो सकती है।

स्मरण रखने की बात है कि अगर धर्म का अर्थ केवल मूर्तिपूजा, भ्रमजाल और अन्धविश्वास है, तो निश्चय ही इसका कोई भविष्य नहीं है। अगर उसका अर्थ भारतीय शब्दावली में अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि है, तो फिर उसका भविष्य आशंकाओं से परे है। धर्म अगर गतिशील नहीं हो, तो वह जीवित नहीं रह सकता। इसलिए आगामी युगों में धर्म का अस्तित्व

इस बात पर निर्भर करेगा कि वह कहाँ तक आने वाले नूतन परिवर्तनों के साथ अभियोजन कर अपनी शक्ति का परिचय दे पाता है।

अपने निबन्ध में मैंने धर्म को विकासशीलता की आधारभूमि पर प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हुए देखा है कि मानव-इतिहास की लम्बी यात्रा में इसमें महान परिवर्तन हुए हैं। अतः, स्पष्ट है कि वैज्ञानिक चेतना के उदय से धर्म का अस्तित्व समाप्त नहीं होगा, बल्कि विज्ञान से उत्पन्न असंतुलित जीवन को संतुलित और शान्तिपूर्ण बनाने के लिए धर्म की आवश्यकता एवं महत्ता बढ़ती जायगी। ह्वाइटहेड ने अपनी रचना 'साइंस ऐण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड' में लिखा है कि धर्म तब तक अपनी प्राचीन सत्ता को नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक वह परिवर्तनशीलता को उसी शक्ति के साथ स्वीकार न कर ले, जिस शक्ति के साथ विज्ञान कर रहा है। यथार्थ यह है कि धार्मिक सिद्धान्त और वैज्ञानिक विचार का द्वन्द्व इस बात का प्रमाण है कि विश्व में व्यापकता सत्य और सुन्दरतर संभावनाएँ हैं, जिनमें से एक गहन धार्मिक समाधान और सर्वाधिक उपयुक्त विज्ञान पाया जा सकता है। टैनीसन ने भी ऐसा ही समाधान दिया है—

Let knowledge grow from more to more;
But more of reverence in us dwell.

विज्ञान और तकनीकी प्रगति का अर्थ पवित्रता एवं अलौकिकता के प्रति सम्मान का अभाव नहीं होना चाहिए।

• •

३. धार्मिक भाषा का स्वरूप

श्रीमती रेवा चौधरी

व्याख्याता, दर्शनशास्त्र-विभाग

लंगट सिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

विभिन्न युगों में दर्शन की समस्याएँ एक-दूसरे से भिन्न रही हैं। जहाँ बीसवीं शताब्दी के पूर्व का दर्शन मुख्यतः तत्त्वमीमांसीय समस्याओं के इर्द-गिर्द केन्द्रित रहा है, वहाँ समकालीन दर्शन का केन्द्रविन्दु भाषा-विश्लेषण कहा जा सकता है। भाषा तथा भाषा-विश्लेषण की महत्ता, दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए, स्वीकार करके आज दर्शन के क्षेत्र में एक नया आयाम (डाइमेन्शन) उपस्थित किया गया है। यह दर्शन के सभी क्षेत्र में एक सुस्पष्ट, सरल, यथार्थ तथा अर्थपूर्ण भाषा-पद्धति की माँग करता है। परिणामतः दर्शन को एक नई दिशा मिल सकी तथा हमारे समक्ष कई नये विषय, जैसे—भाषा-विश्लेषण, अधिनीतिशास्त्र, अधिगणितशास्त्र, अधितर्कशास्त्र आदि नई-नई समस्याओं के साथ उपस्थित हो सके। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य समकालीन दार्शनिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में धार्मिक भाषा के स्वरूप पर प्रकाश डालना है।

समकालीन दर्शन में हम यह पाते हैं कि दार्शनिकों का ध्यान धर्म-दर्शन के क्षेत्र में इसकी परम्परागत समस्याएँ, जैसे—ईश्वर के तात्त्विक गुण क्या हैं, ईश्वर में आस्था या अनास्था किन-किन तर्कीय आधारों पर सुदृढ़ किया जा सकता है, आदि प्रश्नों से हटकर धार्मिक भाषा की ओर ज्यादा-से-ज्यादा आकृष्ट होता जा रहा है। इसका स्पष्ट आभास विटजेन्स्टाईन तथा रसेल के विचारों में पाते हैं और इसका समुचित विकास मॉरिज्श्लिक, रॉडल्फ कारनैप, ए० जे० एयर तथा कई अन्य दार्शनिकों की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।

धर्म-दर्शन की परम्परागत समस्याओं के सम्बन्ध में चाहे कितना ही विवाद-विसंवाद क्यों न रहा हो, इसे एक निर्विवाद सत्य के रूप में स्वीकारा जाने लगा है कि प्रत्येक धर्म में कुछ भाषात्मक अभिव्यक्तियाँ होती हैं, जिनमें अपनी विशिष्टता रहती है। जब इनका विश्लेषात्मक ढंग से अध्ययन करने का प्रयास किया गया, तो इन अभिव्यक्तियों की सार्थकता तथा निरर्थकता का प्रश्न भी उठाया गया। इस सम्बन्ध में तर्कीय भाववादियों ने हमारे समक्ष सत्यापन-सिद्धान्त के रूप में अर्थ की एक कसौटी रखी। प्रारम्भ में सत्यापन-सिद्धान्त जब अत्यधिक प्रचलित हुआ, तब तर्कीय भाववादियों ने धार्मिक भाषा की अर्थपूर्णता को अस्वीकार किया। उनकी दृष्टि में केवल वैसी ही भाषा (वाक्य, अभिकथन, उक्तियाँ आदि) को अर्थपूर्ण स्वीकार किया जा सकता है, जो कम-से-कम सिद्धान्त रूप में सत्यापनीय है।[१] किन्तु, बाद में पर्याप्त वाद-विवाद के उपरान्त यह स्वीकार किया गया कि यह (धार्मिक भाषा) सर्वथा निरर्थक नहीं है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि धर्म मानव-संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है तथा धार्मिक विवेचन (उक्तियाँ, अभिकथन, प्रार्थना आदि के रूप में) मनुष्यों के द्वारा प्रयुक्त भाषा का प्राचीनतम रूपों में से एक है। इसका प्रयोग न केवल थोड़े-से लोग ही, बल्कि जनसमूह शताब्दियों से, सार्थक ढंग से करता आ रहा है। अतः, धार्मिक भाषा की अर्थपूर्णता पर संदेह नहीं किया जा सकता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हम भाषा का प्रयोग करते हैं, किन्तु धार्मिक भाषा का अपना ही वैशिष्ट्य है। इसकी अर्थपूर्णता भी एक विशेष प्रकार की है। धार्मिक उक्तियाँ न विश्लेषात्मक होती हैं और न संश्लेषात्मक ही। इन्हें नियोजक (प्रेसक्रिप्टिव) भी नहीं कहा जा सकता है। विश्लेषात्मक वाक्य वैसे वाक्य हैं, जिनके विधेय में उद्देश्य का विश्लेषण-मात्र पाया जाता है, जैसे—'काली बिल्ली काली है' अथवा 'जड़ में विस्तार है'। इन वाक्यों में विधेय 'काली' तथा 'विस्तार' क्रमशः उद्देश्य 'काली बिल्ली' तथा 'जड़' की धारणाओं में ही निहित है। ऐसे वाक्य आवश्यक या अनिवार्य वाक्य रहते हैं; क्योंकि इनमें विधेय को उद्देश्य के प्रसंग में निषेध करना, अपने को बिना आत्मविरोध की स्थिति में लाये हुए, असंभव है। तार्किक एवं गणितीय वाक्य साधारणतया विश्लेषात्मक ही हुआ करते हैं। यद्यपि धार्मिक वाक्यों में भी अनिवार्यता पायी जाती है, फिर भी इसे विश्लेषात्मक नहीं माना जा सकता है। इसका

१. देखें ए० जे० एयर का लैंग्वेज, ट्रथ ऐण्ड लॉजिक, पृष्ठ ९।

कारण यह है कि विश्लेषात्मक वाक्यों की सत्यता या असत्यता मुख्यत: उनमें प्रयुक्त पदों की परिभाषा पर निर्भर करती है, जो बात धार्मिक उक्तियों के साथ नहीं है। उदाहरण के लिए यदि हमें दो, चार योगफल आदि पदों का अर्थ ज्ञात रहे, तो हमें कहना ही पड़ेगा कि दो और दो का योगफल चार है। यदि हम त्रिभुज, कोण, समकोण इत्यादि की परिभाषाओं को समझते हैं, तो हमें कहना ही पड़ता है कि त्रिभुज के तीनों कोण की समष्टि दो समकोण के बराबर है। किन्तु, धार्मिक वाक्य की अनिवार्यता इस प्रकार की नहीं है। ईश्वर प्रेम है—इस वाक्य की व्याख्या प्रयुक्त पदों की परिभाषा के आधार पर नहीं की जा सकती है। इसके लिए ईश्वर में और उनकी प्रेममयता में विश्वास रखना आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि विश्लेषात्मक वाक्य की अनिवार्यता तर्कनापूर्ण है; क्योंकि यह पदों के सुनिश्चित प्रयोग पर आधारित होता है, जबकि धार्मिक वाक्य की अनिवार्यता मनोवैज्ञानिक है; क्योंकि यह कहने वालों के संप्रत्यय पर निर्भर करता है।

धार्मिक वाक्यों को संश्लेषात्मक भी नहीं माना जा सकता है। संश्लेषात्मक वाक्य वह है, जिसका विधेय उद्देश्य का विश्लेषण-मात्र नहीं है। इसके विधेय में उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई नई बात अवश्य कही जाती है। जैसे,—'चिड़ियाखाने में जेबरा है।' इस वाक्य से एक नए ज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसा वाक्य इन्द्रियानुभूति पर आधारित होने के कारण सत्यापनीय (वेरिफायबल्) होता है। चूँकि धार्मिक वाक्य इन्द्रियानुभूति पर आधारित नहीं होता है, इसलिए उसे सत्यापित भी नहीं किया जा सकता है। हम 'चिड़ियाखाने में जेबरा है'—वाक्य की तरह 'ईश्वर सर्वव्यापी है'—वाक्य को सत्यापित नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त संश्लेषात्मक एवं अनुभविक वाक्यों का अर्थ 'मैं, यह' (आइ-इट) सम्बन्ध में अभिव्यक्त हो पाता है, जो अनुभवकर्त्ता के व्यक्तित्व के बाहरीपन को सूचित करता है, जबकि धार्मिक वाक्यों का अर्थ 'मैं, वह' (आइ-दाउ) सम्बन्ध में अभिव्यक्त होता है, जो विश्वासकर्त्ता के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की उलझन का द्योतक है।[१]

धार्मिक वाक्य नैतिक वाक्य से भी स्पष्टत: भिन्न है। नैतिक वाक्य प्राय: नियोजक हुआ करता है। जैसे—चोरी मत करो। इससे व्यवहार के किसी विशेष नियम का बोध होता है। धार्मिक वाक्य में इस प्रकार का

---

१. देखें, मार्टिन बुबर का आइ ऐण्ड दाउ, आर० जी० स्मिथ द्वारा रूपान्तरित।

विहितीकरण नहीं होता है। यह वाक्य साधारणतः विश्वासकर्त्ता के विश्वास की अभिव्यक्ति है। अतः, यह स्पष्ट है कि धार्मिक वाक्य न तो विश्लेषात्मक होते हैं, न संश्लेषात्मक और न नियोजक ही। यदि हम इसे एक नाम देना ही चाहते हैं, तो हम इसे उत्प्रेरक (इवोकेटिव) कह सकते हैं; क्योंकि यह हमारे अन्दर एक धार्मिक अनुभूति को उत्प्रेरित करता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ धार्मिक अनुभूति के सम्बन्ध में दो बातों का उल्लेख करना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा। धार्मिक अनुभूति एक साधारण अनुभूति नहीं है। यह एक स्वजनित प्रतिक्रिया[१] है, जो मन की एक वैसी अभिवृत्ति[२] की ओर संकेत करती है, जिसके द्वारा हम विशिष्ट ढंग से सोचने या कार्य करने के लिए तत्पर दिखते हैं। फिर, प्रत्येक अभिवृत्ति को धार्मिक नहीं कहा जा सकता है। धार्मिक अभिवृत्ति वह सशक्त स्ववृत्ति या स्वभाव है, जो मनुष्य की समग्रता को जाग्रत कर उसे अशुचिता (प्रोफेननेस) की अवस्था से साकल्य की अवस्था तक पहुँचा देती है। जूरडीग महोदय ने इसको ठीक ही संप्रत्ययात्मक अभिवृत्ति[३] (कॉनविक्शनल ऐटिच्यूड) की संज्ञा दी है। इसी अभिवृत्ति के कारण हममें समग्र जीवन तथा विश्व के संबंध में एक नया दृष्टिकोण तथा नए व्यवहार प्रतिदर्श का उदय होता है। ईयन रामजे के शब्दों में कहा जा सकता है कि यह एक उद्घोषण (डीसर्नमेंट) है, जिससे हम में समस्त विश्व के प्रति आत्मसमर्पण या उपार्पन किंवा प्रतिश्रुति (कामिटमेंट)[४] की भावना जाग्रत होती है। अब धार्मिक वाक्य अर्थपूर्ण इसलिए है कि इससे यह 'धार्मिक अवबोध' या 'संप्रत्ययात्मक अभिवृत्ति' या 'उद्घोषण-उपार्पन' की भावना उत्प्रेरित होती है। अतः, धार्मिक भाषा की सार्थकता तार्किक, गणितिक, वैज्ञानिक तथा नैतिक भाषा से भिन्न है।

धार्मिक भाषा का अपना क्षेत्र है, अपनी प्रयोग-विधि है तथा इसके प्रयोग का अपना प्रसंग भी है और इसे केवल इसी सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। इसमें प्रयुक्त प्रायः सभी शब्द सरल तथा सामान्य होते हैं, जिनका

---

१. आर० ओटो, दि आइडिया ऑफ दि होली, पृष्ठ ७, (जे० डब्लू० हार्व द्वारा रूपान्तरित)।

२. पॉल स्मिथ, रिलिजियस नॉलेज, पृष्ठ ७२-७७।

३. डब्लू० एफ० जूरडीग, ऐन एनालिटिकल फिलॉसफी ऑफ रिलिजन, प्रथम अध्याय।

४. ईयन रामजे, रिलिजियस लैंग्वेज, पृष्ठ ३७।

प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी भावात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए करते हैं। किन्तु, जब हम उनमें निहित उद्देश्य तथा अर्थवत्ता पर विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि उनका प्रयोग इस भाषा में सामान्य शब्दार्थ से भिन्न विशेषार्थ में हुआ है। उदाहरण के लिए 'ईसामसीह ईश्वर के पुत्र हैं'—इस वाक्य में 'पुत्र' शब्द का प्रयोग उस सामान्य अर्थ में नहीं हुआ है, जिस अर्थ में 'राम दशरथ के पुत्र हैं'—वाक्य में 'पुत्र' शब्द का प्रयोग। इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि 'यह ईश्वर का आदेश है', तो कदापि हमारा कहने का तात्पर्य यह नहीं होता कि ईश्वर हम-जैसा शरीरधारी जीव है, जिसके पास बोलने की शक्ति है, जिसके माध्यम से वह आदेश देता है। इस वाक्य में 'आदेश' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में नहीं हो कर विशेष अर्थ में हुआ है। इस प्रकार हम पाते हैं कि धार्मिक भाषा में प्रयुक्त सभी शब्द वैसे रहते हैं, जिनका प्रयोग साधारण भाषा भी करती है, किन्तु इसमें इनका अर्थ एक विशिष्टता लिए रहता है।

धार्मिक भाषा के कुछ विशेष लक्षण हैं। यह साधारणतः साम्यानुमानिक एवं प्रतीकात्मक हुआ करती है। कभी-कभी इसमें नकारात्मक एवं विरोधाभासी वाक्य भी व्यवहृत होते हैं। इसका कारण यह है कि इस भाषा में जिस विषय से संबंधित अभिव्यक्तियाँ होती हैं (ईश्वर, गॉड, अल्ला, ब्रह्म आदि) वह एक वैसा अलौकिक, अतीन्द्रिय, अनन्य सत्ता है, जिसके सम्बन्ध में तथ्यकीय ढंग से कुछ भी निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता है। इसी असमर्थता के कारण हम उपमा, प्रतीक तथा विरोधाभास का सहारा लेते हैं और धार्मिक भाषा को इन सब बातों से परिपूर्ण पाते हैं।

धार्मिक उक्तियों में साम्यानुमान के प्रयोग की स्पष्ट चर्चा हम टॉमस एक्वीनस की कृतियों में पाते हैं।[1] इन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि हम जब किसी एक ही शब्द को ईश्वर तथा ससीम प्राणी दोनों के लिए प्रयुक्त करते हैं, तो उस शब्द का अर्थ दोनों स्थितियों में एक नहीं रहता है। उदाहरणार्थ, 'ईश्वर अच्छा है' तथा 'वह मनुष्य एक अच्छा व्यक्ति है'—इन दोनों वाक्यों में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु द्वितीय वाक्य में 'अच्छा' शब्द का वह अर्थ नहीं है, जो प्रथम वाक्य में है। साथ-ही-साथ यह भी स्पष्ट है कि उनका अर्थ एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न भी नहीं रहता है (जैसे कि 'गज' शब्द का प्रयोग 'माप की एक इकाई' एवं 'हाथी' के सम्बन्ध

---

१. टॉमस एक्वीनस, सुम्ना थियोलॉजिका, प्रथम भाग, पृष्ठ १३, उपपरिच्छेद–५।

में दो पूर्णतः भिन्न अर्थ में होता है)। ईश्वर की अच्छाई एवं मनुष्य की अच्छाई में निश्चित ही कुछ सम्बन्ध है, किन्तु दोनों अभिन्न नहीं हैं। अतः, एक्वीनस की दृष्टि में—'अच्छा' ईश्वर तथा मनुष्य दोनों ही के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु दोनों स्थितियों में वे न तो एकार्थक हैं और न अनेकार्थक ही। वे तब हैं क्या ? एक्वीनस के अनुसार वे साम्यानुमानिक (ऐनालॉजिकल) है और ईश्वर-सम्बन्धी कथन । हम इस प्रकार के साम्यानुमान का सहारा लेते हैं; क्योंकि हम साधारण दृष्टिकोण से ईश्वर के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हैं।

धार्मिक भाषा अधिकतर प्रतीकात्मक होती है। आधुनिक काल में पॉल तीलिख महोदय ने धार्मिक भाषा का विशेष सर्वेक्षण करके इसके प्रतीकात्मक स्वरूप पर प्रकाश डाला है।[१] प्रतीक एक प्रकार के चिह्न हैं, जो अपने से परे किसी अन्य (वस्तु या सत्ता) की ओर संकेत करता है। यह कभी अपने को सूचित नहीं करता है। उदाहरणार्थ, सफेद झंडा एक झंडा-मात्र नहीं, वल्कि शान्ति का प्रतीक है। किन्तु, प्रतीक को केवल एक साधारण चिह्न नहीं समझना चाहिए। किसी वस्तु के लिए किसी चिह्न का प्रयोग कृत्रिम ढंग से किया जाता है। यह प्रयोग परम्परागत तो होता है, पर आवश्यकतानुसार इसका परिवर्तन हो सकता है। प्रतीक इस प्रकार का परिवर्तनीय कृत्रिम चिह्न नहीं है। प्रतीक प्रतीक्य में भावग्राही होता है।[२] चिह्न के साथ उसकी वस्तु का सम्बन्ध वाह्य होता है, जवकि प्रतीक के साथ प्रतीक्य का सम्बन्ध आन्तरिक होता है। मैकग्रीगर के शब्दों में—एक चिह्न निर्देश (मात्र) करता है, एक प्रतीक प्रतिनिधित्व करता है।[३] सड़क पर लाल वत्ती एक चिह्न है, जो इस वात का निर्देशक है कि गाड़ी-चालक रुक जाएँ। पर, सफेद झंडा एक प्रतीक है, जो शान्ति का प्रतिनिधि है। कहने का तात्पर्य है कि प्रतीक के साथ प्रतीक्य का ऐसा सम्बन्ध है कि एक का वहिष्कार विना दूसरे को प्रभावित किए हुए नहीं किया जा सकता है। अव इन प्रतीकों का प्रयोग धार्मिक भाषा में जितने महत्त्वपूर्ण ढंग से किया

---

१. पॉल तीलिख, डाइनामिक्स ऑफ फेथ, पृष्ठ ४१-५४।

२. पॉल तीलिख, डाइनामिक्स ऑफ फेथ, पृष्ठ ४२। (A symbol participates in that to which it points.)

३. जी० मैकग्रीगर, इन्ट्रोडक्शन टु रिलिजस फिलॉसफी, पृ० ३२३। (A sign indicates while a symbol represents.)

जाता है, उतना अन्य किसी भाषा में नहीं। धर्म मुख्यतः वैसी सत्ता से सम्बन्धित है जो अद्वितीय, वर्णनातीत तथा अनुभवातीत है एवं जिसके सम्बन्ध में साक्षात्, उक्ति संभव नहीं है। यह निरूपाधिक सत्ता केवल प्रतीकों के ही द्वारा कथनीय हो सकती है। तीलिख भी यह दर्शाते है कि धार्मिक आस्था, जिसका सम्वन्ध परम सत् से है, विश्लेषात्मक तथा तथ्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त नहीं हो सकती है। इसे केवल प्रतीकों के ही द्वारा बोध किया जा सकता है। यहाँ तक कि ईश्वर, अल्लाह, ब्रह्म आदि संज्ञाएँ भी तो परम सत् का प्रतीक ही हैं। अतः, यह कथन गलत नहीं है कि आस्था की भाषा प्रतीकों की भाषा है।[1] इस सिलसिले में भारतीय दार्शनिकों में के० सी० भट्टाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। भट्टाचार्य महोदय ने दिखाया है कि परम सत्ता एक ऐसी असीम, अनिश्चित, अनिर्धार्य सत्ता है, जिसके सम्वन्ध में शाब्दिक कथन संभव ही नहीं है। शाब्दिक अभिव्यक्ति केवल स्थानकाल में रहने वाली घटनाओं (जैसे—पुस्तक, टेबुल आदि) तथा आत्मवर्त्ती (सेल्फ-साबसिस्टेन्ट) वस्तुओं (जैसे २+२=४) के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त हो सकती है। ससीम विषयों (जैसे—मैं, आप आदि) के सम्वन्ध में भी शाब्दिक कथन का प्रयोग हो सकता है। किन्तु परम सत्य, जो निश्चित विश्वास का विषय है, पर जिसे न आत्मनिष्ठ और न वस्तुनिष्ठ रूप में समझा जा सकता है, उसकी कथनीयता शाब्दिक नहीं, केवल प्रतीकात्मक है।[2] (दि ट्रथ इज सिम्वलिकली स्पिकेब्ल्)।

धार्मिक भाषा में विरोधाभास का प्रयोग भी हुआ करता है। प्रश्न किया जा सकता है कि विरोधाभास है क्या? विरोधाभास साधारण विरोध-मात्र नहीं है। एक विरोधी वाक्य वह है, जिसमें परस्परविरोधी बातों को स्वीकारा जाता है, जिनकी स्वतंत्र रूप से बोधगम्यता है, पर सम्मिलित रूप से नहीं। जैसे, वर्गाकार वृत्त। विरोधाभास में विरोधी पदों का प्रयोग इस रीति से होता है कि उनका सम्मिलित रूप में जो अर्थ रहता है, वह उनके स्वतंत्र रूप में नहीं। धार्मिक भाषा में विरोधाभास का पर्याप्त प्रयोग दिखाई देता है। 'त्यक्तेन भुञ्जिथा', 'ईश्वर सर्वव्यापी है, किन्तु वह कहीं भी नहीं

१. पॉल तीलिख, सिम्बल्स ऑफ फेथ, फिलॉसफी ऑफ रिलिजन, जी० अबरनेथी एवं टी० लैंगफोर्ड द्वारा संपादित, पृ० ३५६।

२. के० सी० भट्टाचार्य, दि कानसेप्ट ऑफ फिलॉसफी, कनटेमपोरारी इण्डियन फिलॉसफी, राधाकृष्णन एवं म्युरहेड द्वारा संपादित, पृ० १११।

है', 'ब्रह्म हिमालय पर्वत से भी ऊँचा है तथा अणु से भी क्षुद्र' आदि कुछ उक्तियाँ हैं, जिन्हें धार्मिक भाषा में विरोधाभास का उदाहरण समझा जा सकता है। प्रसिद्ध अस्तित्ववादी दार्शनिक सोरेन किर्केगार्ड ने धार्मिक भाषा में विरोधाभासी अभिकथनों के औचित्य पर जोर दिया है। धार्मिक सत्य न तो सरल और वस्तुनिष्ठ होते हैं और न निश्चित सूत्र में बँधे हुए। अतएव, वैसा व्यक्ति, जो इसे प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है, उसे सैद्धान्तिकता के सरल मार्ग को त्याग कर विरोधाभासों के माध्यम से अपनी अशांत जिज्ञासा को संतुष्ट करना पड़ता है। किर्केगार्ड स्पष्टतः कहते हैं—विरोधाभास को उपेक्षणीय नहीं समझें; क्योंकि विरोधाभास ही चिन्तक की उत्कंठाओं का स्रोत है। विरोधाभास के अभाव में चिन्तक एक अनुभूतिहीन प्रेमिक के समान है—यह एक नगण्य मध्यवित्तता है।[1]

इस प्रकार हम पाते हैं कि धार्मिक भाषा का एक विशिष्ट स्वरूप ही है। यह यथार्थ, सुनिश्चित तथा संज्ञानात्मक नहीं हो सकती है; क्योंकि इसकी विषयवस्तु कोई सामान्य, अनुभवजन्य तथ्य नहीं है। मैकग्रीगर ने ठीक ही कहा है—यह (भाषा) अनन्य है; क्योंकि जिस सत्ता के लिए इसका प्रयोग करते हैं, वह स्वयं ही अनन्य है।[2] यद्यपि धार्मिक भाषा का कोई अपना स्वतंत्र शब्दकोश नहीं है तथा इसमें प्रयुक्त शब्दों में कोई असाधारणत्व नहीं है, फिर भी इसकी विशिष्टता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसमें प्रयुक्त सभी शब्द विशेषार्थ लिए रहते हैं और इन्हें इस विशेष परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। परिप्रेक्ष्य से अलग करके इन शब्दों का अर्थ समझने का प्रयास ठीक उसी तरह गलत होगा, जिस तरह किसी परिवार में प्रचलित मजाक को कोई बाहरी व्यक्ति, जो इसमें प्रयुक्त शब्दों के विशेषार्थ से परिचित नहीं है, इसे शब्दार्थ के आधार पर निरर्थक समझ लेने की भूल करता है। धार्मिक भाषा उन लोगों के लिए भ्रान्त, निरर्थक तथा पहेली-जैसी प्रतीत होती है, जो इसके सन्दर्भ तथा परिप्रेक्ष्य से परिचित नहीं रहते हैं। किन्तु, जो इसे उपयुक्त संदर्भ में देख पाते हैं, उनके लिए यह केवल अर्थपूर्ण ही नहीं, बल्कि महामूल्यवान भी है। ईशोपनिषद् का यह वाक्य—यह गतिवान् है तथा अगतिवान् है, यह दूर है तथा निकट है, यह सबमें समाहित है तथा

---

१. सी० किर्केगार्ड, फिलॉसफिकल फ्रेगमेंट्स (डेविड एफ० स्वेन्सन द्वारा रूपान्तरित) पृ० २९।

२. जी० मैकग्रीगर, इन्ट्रोडक्शन टू रिलिजस फिलॉसफी, पृ० ३१६।

सबसे बाहर है, साधारणतया विरोधों से परिपूर्ण दिखाई देता है। किन्तु, वैसे व्यक्ति, जो इसमें निहित गूढ़ रहस्य को समझते हैं, वे परम आनन्द तथा शांति अनुभव करते हैं। क्रूश, जो ईसा की विमोचक मृत्यु का प्रतीक है, ईसाइयों के लिए गूढ़ अर्थ रखता है। किन्तु, एक अनास्थावान व्यक्ति के लिए यह निरर्थक है। इसी प्रकार सीता-राम नाम से केवल इतना ही लगता है कि यह दो व्यक्तियों के नाम हैं, जिनमें एक पुरुष है तथा दूसरी नारी। पर, एक सनातन वैष्णव के अन्तर में यह नाम एक अनिवर्चनीय आनन्द उत्पन्न करता है।

अतः, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धार्मिक भाषा सन्दर्भ एवं परिप्रेक्ष्य से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए निरर्थक तथा मूल्यहीन हो सकती है, किन्तु इसके वास्तविक स्वरूप जानने वालों के लिए यह केवल अर्थपूर्ण ही नहीं, बल्कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। यह हमारे अन्दर एक नए अवबोध को जन्म देती है तथा एक विशेष धार्मिक स्थिति उत्पन्न करती है। इसके कारण हमलोगों में एक साकल्य एवं पूर्णता की भावना उदित होती है और हम अपने को चरम सत्ता में समर्पित, संलग्न तथा समाहित अनुभव करते हैं। धार्मिक भाषा एक कुंजी है, जिसके द्वारा अज्ञेय के मन्दिर का स्वर्णद्वार खुल जाता है—जहाँ परम शांति तथा चरम आनन्द विराजमान है।

●●

४. तुलनात्मक धर्म

डॉ० रिपुसूदन प्रसाद श्रीवास्तव
दर्शनशास्त्र-विभाग
लंगट सिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर ।

(प्रस्तुत निबंध में विस्तार और समय की सीमा को ध्यान में रखते हुए तुलनात्मक धर्म के स्वरूप, उसके दायित्व और उसकी पद्धति पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। विषय को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने के लोभ का जानबूझ कर संवरण किया गया है।)

वैज्ञानिक चेतना के बढ़ते हुए चरण समय और दूरी की खाई को इतनी दूर तक पाट चुके हैं कि आज समस्त विश्व अनेक दृष्टियों से एक इकाई बन चुका है। अब आज का युग किसी नई दुनिया को ढूँढ़ने वाले कोलम्बस की प्रतीक्षा नहीं कर रहा है, बल्कि अनेक युगों एवं अनेक भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध विचार-गंगा को सार्वभौमिकता एवं सार्वजनीनता के समतल पर लाने वाले भगीरथ की अगवानी को व्यग्र है।

वर्त्तमान सदी में राष्ट्रों के पारस्परिक संबंध बड़ी त्वरा से बढ़ते गए हैं और परिणामस्वरूप विश्व की प्रत्येक समस्या, प्रत्येक प्रश्न को नए आयाम मिले हैं। धर्म भी इससे वंचित नहीं रहा है। इन सम्पर्कों के फलस्वरूप धर्म की संज्ञा नया स्वरूप पा सकी है या नहीं, यह विवादास्पद है और यह चर्चा यहाँ वांछित भी नहीं है। किन्तु, इतना सत्य है कि धर्म के प्रति विचारकों के दृष्टिकोण में अन्तर अवश्य आया है। चार्ल्स सैमुएल ब्रैडेन[१] ने धर्म को प्रभावित करने वाले जिन अनेक तत्वों का उल्लेख किया है, उनमें सांस्कृतिक

१. मॉडर्न टेन्डेन्सीज इन वर्ल्ड रेलिजन, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन, १९३३, पृष्ठ ४-१९।

विनिमय को भी प्रमुखता दी है। स्पष्ट है कि छात्रों एवं शिक्षकों के विनिमय आदि के द्वारा राष्ट्र एक-दूसरे के निकटतर होते गए हैं और इसलिए एक-दूसरे के विचारों, समस्याओं, दर्शन, धर्म आदि में अभिरुचि लेने लगे हैं, जिनके कारण धर्म के क्षेत्र में अनेक पुराने पूर्वग्रहों का अन्त हुआ है। तुलनात्मक धर्म का आन्दोलन इसी पृष्ठभूमि की उपज है।

'तुलनात्मक धर्म'—यह शब्दावली कभी-कभी आलोचना का विषय भी बनती है; क्योंकि यह अपने अभीष्ट की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं दे पाती। इसीलिए लोगों ने इसके बदले 'धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन' या 'धर्मों का अध्ययन' मात्र कहना श्रेयस्कर समझा है।[१] यदाकदा इसे 'धर्मों का इतिहास'[२] भी कहा गया है। यद्यपि इससे सिर्फ भूतकालिक अध्ययन ही व्यंजित हो पाता है। तुलनात्मक धर्म की संज्ञा प्रारंभ में थोड़ी अटपटी जो लगे, किन्तु इस शब्दावली का लाघव धीरे-धीरे इसे लोकप्रिय बना रहा है और अर्थवत्ता तो परम्परा से जुट ही जाती है।

'इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रेलिजन ऐण्ड रेलिजन्स'[३] में तुलनात्मक धर्म के संबंध में निम्नलिखित टिप्पणी मिलती है—"(यह) विश्व के विभिन्न धर्मों का, उनकी समानताओं और विषमताओं तथा उनके सामान्य धार्मिक प्रत्ययों को ढूँढ़ने के उद्देश्य से किया गया वैज्ञानिक और इसलिए पक्षपातरहित अध्ययन (है)।" इस टिप्पणी से तुलनात्मक धर्म का एक स्वरूप और उसका दायित्व स्पष्ट होता है, किन्तु दुर्भाग्य से 'तुलनात्मक धर्म' शीर्षक से प्रारंभ में जो कुछ पुस्तकें[४] आई हैं, उनमें धर्मों का मूल और उनमें निहित एकता को ढूँढ़ने के प्रयास ज्यादा हुए हैं और फलस्वरूप बात जीववाद (एनिमिज्म) और होटमवाद आदि के पूर्वापर-संबंध में उलझ कर रह गई है। जिन लोगों ने बात को कुछ आगे बढ़ाया भी है, उनका उद्देश्य दूसरे धर्मों पर ईसाई धर्म के प्रभाव को स्थापित करना ही अधिक रहा है। इसका परिणाम यह हुआ

१. देखें, ज्योफ्री पैरिन्डर, कम्परेटिव रेलिजन, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन, १९६२, पृष्ट ११।
२. वही।
३. ई० रायस्टन पाइक द्वारा संपादित, जार्ज एलेन ऐण्ड अनविन, १९५१, पृ० ३२०।
४. देखें, ई० ओ० जेम्स, कम्परेटिव रेलिजन, लंदन, १९४२; ए० सी० बुके, कम्परेटिव रेलिजन, १९४६।

है कि बहुतों ने तुलनात्मक धर्म का उद्देश्य ही समझ लिया है—धर्मों की तुलना के उपरान्त किसी धर्मविशेष की महत्ता या उसकी लघुता को स्थापित करना। इस दिशा में प्रयत्न भी हुए हैं और इन प्रयत्नों से तुलनात्मक धर्म की मूल-भावना को हानि ही पहुँची है। तुलनात्मक धर्म के प्रति इसी धारणा को लक्ष्य करके हस्टन स्मिथ ने कहा है : "तुलनात्मक धर्म का अर्थ अगर धर्मों की तुलनात्मक क्षमता का वर्णन है, तो यह पुस्तक तुलनात्मक धर्म पर नहीं है।.... जो तुलनात्मक धर्म इन प्रश्नों से संबंध रखता है, वह सदा प्रतियोगी धर्म (कम्पीटीटिव रेलिजन) के रूप में पतित हो जाता है।"

यों तो तुलनात्मक धर्म पर टिप्पणी करते हुए पाइक ने 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन ऐण्ड रेलिजन्स' में इसका प्रारंभ ईसा के ६०० वर्ष पूर्व जेनोफिनिज के समय से ही माना है, किन्तु संभवतः उनका अभिप्राय यह दिखाना है कि धर्म को दार्शनिक आधार देने का प्रयास तभी से शुरू हुआ। अतः, तुलनात्मक धर्म का प्रारंभ जेनोफिनिज के समय से मानना भ्रामक है। इस दिशा में पहला प्रयास हम ऑक्सफोर्ड एस्सेज (१८५६) में प्रकाशित मैक्समूलर के निबंध 'एस्से ऑन कम्परेटिव रेलिजन' को मान सकते हैं।[1] यों भी मैक्समूलर का मूल उद्देश्य तथ्यों के आकलन के बल पर पूर्व और पश्चिम के चिन्तन को निकटतर और आमने-सामने लाना रहा है और इस दिशा में उनकी सेवाएँ अप्रतिम हैं। बाद के वर्षों में रूडोल्फ औटो[2] और डॉ० राधाकृष्णन्[3] के प्रयत्न उल्लेख्य हैं। यों, इ० बी० टाइलर, कार्नेलीस, पीटर टाइले, फ्रेजर, मैक्स वेबर, हैनरीख हीलर तथा डब्ल्यू० सी० स्मिथ आदि के कार्य भी प्रशंसनीय हैं।

फिर भी तुलनात्मक धर्म को वह प्रतिष्ठा और महत्त्व नहीं मिल सके हैं, जो अपेक्षित था। टेड्युज मार्गुल ने अपने निबंध के प्रारंभ में भारत में

---

१. देखें, टेड्युज मार्गुल का निबंध कम्परेटिव रेलिजन ऐज ए सोशल साइंस ऐण्ड दि इंडियन ट्रेडिशनल लोर, इंडियन फिलॉसफिकल ऐनुअल, मद्रास विश्वविद्यालय, १९६६।

२. देखें, इंडियाज रेलिजन ऑफ ग्रेस ऐण्ड क्रिश्चियानिटी कम्पेयर्ड ऐण्ड कन्ट्रास्टेड तथा मिस्टिसिज्म : ईस्ट ऐण्ड वेस्ट।

३. देखें, ईस्टर्न रेलिजन ऐण्ड वेस्टर्न थॉट, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९३९।

तुलनात्मक धर्म की उपेक्षित स्थिति पर प्रकाश डाला है। उनकी टिप्पणी का महत्त्व मैं इस सन्दर्भ में अधिक मान रहा हूँ कि भारत एक ऐसा देश है, जहाँ सभी धर्मों एवं सभी सम्प्रदायों के लोग रहते हैं और फलतः उनमें पारस्परिक अवबोध की अधिक आवश्यकता और गुंजाइश भी है। किन्तु, भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी तुलनात्मक धर्म की स्थिति कुछ विशेष अच्छी नहीं है। मैं श्री मार्गुल का ध्यान 'दि हिब्बर्ट जर्नल'[1] की सम्पादकीय टिप्पणी की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिसमें स्पष्टतः खेद प्रकट करते हुए कहा गया है—"तुलनात्मक धर्म का अध्ययन सभी विश्वविद्यालयों एवं धर्मशास्त्रीय महाविद्यालयों में कदापि नहीं होता है। जहाँ इसे पाठ्यक्रम में लिया भी गया है, वहाँ इसका स्थान गौण और वैकल्पिक ही है। इस तरह तुलनात्मक धर्म की स्थिति बहुत उत्साहप्रद नहीं है और यह एक दुःखद सत्य है।"

परस्पर अवबोधन के नारे के इस युग में भी धर्म के प्रति पूर्ण न्याय नहीं हो पाया है। धर्मों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जितनी क्षति, जितना रक्तपात धर्म के नाम पर हुआ है, वह अन्य किसी एक नारे पर नहीं। प्रायः ही राजनीति ने अपनी पंगु धारणाओं के लिए धर्म को वैसाखी बनाया है। इसीलिए विचारकों में धर्म के प्रति अनास्था भी उपजी है; फ्यूरबाख ने धर्म को मानव-प्रकृति में निहित असाध्य अशुभ कहा है।

आज विश्व की स्थिति अत्यन्त ही विचारणीय है। विज्ञान की प्रगति और उसमें लोगों की बढ़ती आस्था से यह अनुमान लगने लगा था कि धर्म का कालक्रम में तिरोहण हो जायगा। धर्म और विज्ञान के पारस्परिक संबंधों पर बहुत विवेचन हुए। लेकिन, आज आश्चर्य इस बात का है कि धर्म तिरोहण के मार्ग पर जाने के बदले लोकप्रियता ही प्राप्त करता जा रहा है—इसके साक्ष्य वर्त्तमान में अनेक दिशाओं से प्राप्त हुए हैं। धार्मिक ग्रंथों और फिल्मों की लोकप्रियता तथा चर्चों की उपस्थिति[2] से यह प्रमाणित हुआ है कि धर्मों में लोगों की आस्था आज भी कायम है। जैसा कि मेरी लिऑन[3] ने कहा है : "आधुनिक व्यक्ति असुविधापूर्वक अपने-आप से हर

१. दि हिब्बर्ट जर्नल, अक्टूबर १९६२, पृष्ठ १५।

२. देखें, माइटमैन ऐण्ड ल्युविस (संपादित) ऐप्रोचेज टू दि फिलॉसफी ऑफ रेलिजन, पृष्ठ १।

३. रेलिजस लैंग्वेज, दि हिब्बर्ट जर्नल, पृष्ठ १७५।

घड़ी कहता है कि इसमें (धर्म में) कुछ है जरूर ।" यहाँ 'असुविधापूर्वक' शब्द द्रष्टव्य है । व्यक्ति अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए हर इतर प्रयास करता है, किन्तु विफल होकर उसे धर्म का सहारा लेना पड़ता है— 'जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवे' और यह उसके लिए एक असुविधाजनक स्थिति है, फिर भी चूँकि वह विवश है, अतः कोई विकल्प नहीं है । इस तरह धर्म स्वयं उसकी समस्याओं का केन्द्र बन गया है ।[१]

इस तरह वर्त्तमान युग में दो बातें सत्य हैं—एक कि न तो धर्म तिरोहित हो रहा है और न इसकी संभावना ही है, विपरीततः इसकी लोकप्रियता बढ़ती ही जा रही है और दूसरा कि आज भी विभिन्न धर्मों के विभिन्न पक्ष एक-दूसरे के समक्ष उजागर हो कर नहीं आए हैं और फलतः परस्पर असहिष्णुता बनी हुई है । ऐसी परिस्थिति में तुलनात्मक धर्म को एक बहुत बड़ी भूमिका मिल जाती है; साथ ही, इसका महत्त्व भी विशेष रूप से बढ़ जाता है ।

पुनः, तुलनात्मक धर्म पूर्व और पश्चिम के बीच की खाई को पाटने का भी एक सुन्दर साधन हो सकता है । ५०-६० वर्ष पूर्व, जबकि यूरोपीय दर्शन में प्रत्ययवाद का आधिपत्य था, पूर्व और पश्चिम बहुत करीब हो गये थे । किन्तु, बाद के वर्षों में यूरोपीय दर्शन भाववाद और भाषाविषयक विश्लेषण की ओर उन्मुख होता गया है, जबकि भारतीय विचारधारा आज भी प्रत्ययवादी है । इस तरह फिर दोनों के बीच एक बड़ी खाई-सी बनती जा रही है, जिसको पाटने का एकमात्र रास्ता तुलनात्मक धर्म ही है । दर्शन भले दूर हो गए हों, धर्म आज भी करीब है; हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से बहुत दूर नहीं है, इस्लाम तो और भी करीब है ।

इस असाधारण भूमिका के साथ तुलनात्मक धर्म, धर्म के शास्त्रीय प्रश्नों के समाधान में भी सहायक सिद्ध हो सकता है । धर्म का सबसे पहला और सबसे उलझा प्रश्न स्वयं धर्म के स्वरूप, इसकी सर्वमान्य परिभाषा लेकर ही है । यह एक त्रासद सत्य है कि अब तक धर्म की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा निश्चित नहीं हो पाई है । यहाँ न तो धर्म की परिभाषाओं की व्याख्या ही अभीष्ट है और न उन परिभाषाओं की त्रुटियों के कारणों का उल्लेख ही । यहाँ सिर्फ यही कहना है कि धर्म की सर्वमान्य परिभाषा तभी निर्धारित हो सकती है, जबकि

१. तुलना करें, बर्नार्ड बोसांक्वे, व्हाट रेलिजन इज, मैकमिलन, १९३१, पृष्ठ vi—"धर्म सभी मानवीय कठिनाइयों का केन्द्र है, गाँठ है·····।"

सभी धर्मों के विभिन्न अंगों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उसके आधार पर धर्म के मौलिक एवं सामान्य तत्त्वों को ढूँढा जाय। इस कार्य में तुलनात्मक धर्म का योगदान बड़े महत्त्व का हो सकता है। पुनः, धर्म के मूल के संबंध में भी गहरा मतभेद है। यहाँ भी अगर विभिन्न धर्मों के मूल का पक्षपातरहित तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो गाँठ को सुलझाने में सहायता मिल सकती है। एस० इ० फ्रॉस्ट[१] ने ठीक ही कहा है कि प्रत्येक धर्म का मूल उसके मानने वालों के जातीय इतिहास में रहता है और यह

संस्कार और उनके अभिप्रेत तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो पाता है, तब तक धार्मिक भाषा के कार्य या धार्मिक अभ्यर्थनों के औचित्य का निर्णय नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र में मौलिक अन्तर है और वह यह कि नीतिशास्त्र का स्वरूप निर्धारित है, किन्तु धर्म के स्वरूप की उलझनें धर्मशास्त्र के साथ भी लगी हुई हैं और विना तुलनात्मक अध्ययन के इनसे मुक्ति नहीं। अतः, अधिधर्मशास्त्रीय अध्ययन के लिए भी तुलनात्मक धर्म का आधार होना अपरिहार्य है।

अन्त में, तुलनात्मक धर्म की पद्धति के विषय में संक्षिप्त चर्चा अभीष्ट है। जैसा कि प्रारंभ में भी कुछ संकेत किया गया है, तुलनात्मक धर्म के लिए अनेक पद्धतियों का प्रयोग हुआ है। रॉवर्ट अर्नेस्ट ह्यूम[1] ने छह पद्धतियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, एक पद्धति है—सभी धर्मों के अंधविश्वासों एवं परम्परागत अविवेकी तत्त्वों का संकलन कर यह दिखाना कि सभी धर्म समान रूप से निन्द्य हैं। दूसरी पद्धति है, तमाम गैरईसाई धर्मों की आलोचना की। फिर, एक विशेष धर्म को आधार मान कर अन्य धर्मों की निन्दा का भी प्रचलन है। थियोसॉफी (ब्रह्मविद्या) की भी अपनी एक पद्धति है। इसके अनुसार, प्रत्येक धर्म में लाभप्रद तत्त्व हैं। विशेषतः, उस धर्म के अनुयायी के लिए तो पर्याप्त मात्रा में हैं। एनीबेसेण्ट[2] ने कहा था, "विश्व में प्रत्येक धर्म का अपना उद्देश्य है, प्रत्येक धर्म उस देश के निवासियों के लिए, जिनके लिए वह है, उपयुक्त है····।" इनमें से किसी भी पद्धति से तुलनात्मक धर्म के आन्दोलन के पीछे का अभिप्रेत नहीं सध सकता।

पोलैंड के विद्वान टेड्युज मार्गुल ने तुलनात्मक धर्म को समाज-विज्ञान[3] के रूप में प्रतिष्ठित करने की बात कही है। अगर तुलनात्मक धर्म को उन महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह करना है, जिनका संकेत ऊपर किया गया है, तो इसे समाज-विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना ही होगा। जिस तरह समाज-विज्ञान अपने सम्बद्ध विषय के संबंध में तथ्यों का आकलन भर करता है, उनके आदर्श स्वरूपों का निर्धारण नहीं, वैसे ही तुलनात्मक धर्म के जिम्मे विभिन्न धर्मों के विभिन्न पक्षों को तुलनात्मक रूप से उजागर करने भर का

१. दि वर्ल्ड्स लिविंग रेलिजन्स, टी० ऐण्ड टी० क्लार्क, १९५९, पृष्ठ ११-१२।

२. उद्धृत, वही, पृ० १२।

३. देखें, इंडियन फिलॉसफिकल ऐनुअल, मद्रास, विश्वविद्यालय, १९६६, पृ० ६३।

सभी धर्मों के विभिन्न अंगों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उसके आधार पर धर्म के मौलिक एवं सामान्य तत्त्वों को ढूँढा जाय। इस कार्य में तुलनात्मक धर्म का योगदान बड़े महत्त्व का हो सकता है। पुनः, धर्म के मूल के संबंध में भी गहरा मतभेद है। यहाँ भी अगर विभिन्न धर्मों के मूल का पक्षपातरहित तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो गाँठ को सुलझाने में सहायता मिल सकती है। एस० इ० फ्रॉस्ट[1] ने ठीक ही कहा है कि प्रत्येक धर्म का मूल उसके मानने वालों के जातीय इतिहास में रहता है और यह इतिहास समरूप नहीं हो सकता। इस इतिहास की तह में जा कर ही कोई निर्णय लिया जा सकता है। यहाँ भी तुलनात्मक धर्म की सेवाएँ ली जा सकती हैं। इधर कुछ दिनों से विश्व-धर्म की स्थापना के प्रयास हो रहे हैं। विश्व-धर्म की पूरी धारणा ही तुलनात्मक धर्म का प्रतिफल है। कुछ समसामयिक विचारकों ने धार्मिक भाषा के प्रश्न पर सोचना शुरू किया है और नीतिशास्त्र तथा अधिनीतिशास्त्र (इथिक्स और मेटाइथिक्स) की तरह धर्म-शास्त्र और अधिधर्मशास्त्र (थियोलॉजी और मेटा-थियोलॉजी)[2] के अन्तर की सूक्ष्म कल्पना भी होने लगी है। मुझे इन प्रयत्नों के संबंध में अपनी तरफ से यहाँ कुछ भी कहने का अवसर नहीं है। अगर विद्वानों की राय में ये प्रयत्न वांछनीय हैं, तो मैं यह कहना चाहूँगा कि इसके लिए भी तुलनात्मक धर्म सहायक हो सकता है। ग्रैनरोज ने दो तरह के धार्मिक वाक्यों[3] का उल्लेख किया है—"क्या ईश्वर का अस्तित्व है ? ईश्वर का स्वरूप क्या है ?" आदि प्रश्न प्रथम-श्रेणी-प्रश्न (फर्स्ट-आर्डर-क्वेश्चन्स) हैं और इन्हें आदर्शमूलक धर्मशास्त्र के अन्तर्गत रखा है तथा "धर्मशास्त्रीय अध्ययनों (क्लेम्स) का औचित्य कैसे सिद्ध किया जाय ? धार्मिक भाषा के कार्य क्या हैं ?" आदि प्रश्नों को अधिधर्मशास्त्रीय प्रश्न माना है। यह निर्विवाद है कि ग्रैनरोज के प्रथम-श्रेणी-प्रश्नों के लिए तुलनात्मक धर्म ही सामग्री जुटा सकता है। किन्तु, मेरी दृष्टि में अधिधर्मशास्त्रीय प्रश्नों का समाधान भी तुलनात्मक धर्म के ही आधार पर हो सकता है। जब तक सभी धर्मों की प्रकृति उनके जातिगत

---

१. दि सैक्रेड राइटिंग्स ऑफ दि वर्ल्ड्स ग्रेट रेलिजन्स, दि न्यू होम लाइब्रेरी, १९४७, पृ० ६।

२. देखें, जॉन डी० ग्रैनरोज का निबंध नॉर्मेटिव थियोलॉजी ऐण्ड मेटा-थियोलॉजी, हार्वर्ड थियोलॉजिकल रिव्यू, जुलाई १९७०।

३. वही।

संस्कार और उनके अभिप्रेत तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं हो पाता है, तब तक धार्मिक भाषा के कार्य या धार्मिक अभ्यर्थनों के औचित्य का निर्णय नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र में मौलिक अन्तर है और वह यह कि नीतिशास्त्र का स्वरूप निर्धारित है, किन्तु धर्म के स्वरूप की उलझनें धर्मशास्त्र के साथ भी लगी हुई हैं और बिना तुलनात्मक अध्ययन के इनसे मुक्ति नहीं। अतः, अधिधर्मशास्त्रीय अध्ययन के लिए भी तुलनात्मक धर्म का आधार होना अपरिहार्य है।

अन्त में, तुलनात्मक धर्म की पद्धति के विषय में संक्षिप्त चर्चा अभीष्ट है। जैसा कि प्रारंभ में भी कुछ संकेत किया गया है, तुलनात्मक धर्म के लिए अनेक पद्धतियों का प्रयोग हुआ है। रॉवर्ट अर्नेस्ट ह्यूम[1] ने छह पद्धतियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, एक पद्धति है—सभी धर्मों के अंधविश्वासों एवं परम्परागत अविवेकी तत्वों का संकलन कर यह दिखाना कि सभी धर्म समान रूप से निन्द्य हैं। दूसरी पद्धति है, तमाम गैरईसाई धर्मों की आलोचना की। फिर, एक विशेष धर्म को आधार मान कर अन्य धर्मों की निन्दा का भी प्रचलन है। थियोसॉफी (ब्रह्मविद्या) की भी अपनी एक पद्धति है। इसके अनुसार, प्रत्येक धर्म में लाभप्रद तत्त्व हैं। विशेषतः, उस धर्म के अनुयायी के लिए तो पर्याप्त मात्रा में हैं। एनीबेसेण्ट[2] ने कहा था, "विश्व में प्रत्येक धर्म का अपना उद्देश्य है, प्रत्येक धर्म उस देश के निवासियों के लिए, जिनके लिए वह है, उपयुक्त है....।" इनमें से किसी भी पद्धति से तुलनात्मक धर्म के आन्दोलन के पीछे का अभिप्रेत नहीं सध सकता।

पोलैंड के विद्वान टेड्युज मार्गुल ने तुलनात्मक धर्म को समाज-विज्ञान[3] के रूप में प्रतिष्ठित करने की बात कही है। अगर तुलनात्मक धर्म को उन महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह करना है, जिनका संकेत ऊपर किया गया है, तो इसे समाज-विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना ही होगा। जिस तरह समाज-विज्ञान अपने सम्बद्ध विषय के संबंध में तथ्यों का आकलन भर करता है, उनके आदर्श स्वरूपों का निर्धारण नहीं, वैसे ही तुलनात्मक धर्म के जिम्मे विभिन्न धर्मों के विभिन्न पक्षों को तुलनात्मक रूप से उजागर करने भर का

---

१. दि वर्ल्ड्स लिविंग रेलिजन्स, टी० ऐण्ड टी० क्लार्क, १९५९, पृष्ठ ११-१२।

२. उद्धृत, वही, पृ० १२।

३. देखें, इंडियन फिलॉसफिकल ऐनुअल, मद्रास, विश्वविद्यालय, १९६६, पृ० ६३।

काम है, उनके औचित्य-अनौचित्य, वांछनीयता-अवांछनीयता, सत्यता-असत्यता आदि पर निर्णय देना नहीं; क्योंकि तब शोधकर्त्ता के व्यक्तिगत विश्वास अन्य धर्मों पर हावी होने लगेंगे और फलस्वरूप 'कम्परेटिव रेलिजन' 'कम्पीटिटिव रेलिजन' बन जायगा, जैसा कि हूस्टन स्मिथ ने कहा है। तुलनात्मक धर्म का दायित्व बड़ा चुनौती भरा है। तुलनात्मक धर्म के शिक्षक का दायित्व बतलाते हुए कांटवेल स्मिथ[1] ने कहा है, "इस्लाम के संबंध में लिखने वाले एक गैर-मुसलमान विद्वान का कार्य है, एक ऐसा विवरण प्रस्तुत करना जो व्यक्तियों के हृदय में जमे, विश्वास के साथ न्याय करे, उनकी सहमति प्राप्त करे। यह एक सर्जनात्मक तथा चुनौती भरा कार्य है।" धर्मों के ऐसे निष्पक्ष तथ्यपरक विवरणों के लिए दो रास्ते हैं—या तो, जैसा कि पैरिन्डर[2] ने कहा है, हर धर्म का विवरण उस धर्म को मानने वाले अधिकारी विद्वान प्रस्तुत करें; क्योंकि इससे धर्म की आत्मा बिना बाह्य आलोचना के कलुष के प्रकाशित होगी या फिर ऐसे विद्वान, जिनकी किसी भी धर्म में आस्था नहीं हो, अपनी खोजों के आधार पर धर्मों के विवरण पेश करें। दूसरे विकल्प से पैरिन्डर सहमत नहीं, उन्हें शक है कि एक नास्तिक धर्मों का आस्थावादी पक्ष कभी भी निष्पक्ष रूप से नहीं रख सकता, इसके विपरीत जो किसी एक मत में आस्था रखता है, उसे अन्य मतों के आस्थावादी पक्ष से सहानुभूति हो सकती है।[3] यह शंका निर्मूल नहीं कही जा सकती, किन्तु यहाँ एक लाभ भी है, वह यह कि एक नास्तिक बिना किसी पूर्वग्रह के धर्मों की व्याख्या कर सकता है और अगर उसका कोई पूर्वग्रह है, तो वह पूर्वविदित ही है तथा वह है, धर्मों के प्रति उसकी अनास्था। कम-से-कम उसके विचारों में शुद्ध तथ्यपरकता तो होगी ही।

समसामयिक युग में समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों (एन्थ्रोपोलॉजिस्ट्स) ने अपने विषयों की परिधि में तुलनात्मक धर्म को भी स्थान दिया है और उन्होंने अपने शोधकार्यों से तुलनात्मक धर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान भी किया है। सर जेम्स फ्रेजर से ले कर आज तक बहुतों ने धर्म की व्याख्या प्रस्तुत की। जब तुलनात्मक धर्म को समाज-विज्ञानों का स्वरूप देने की बात का समर्थन किया गया है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि तुलनात्मक

---

१. कम्परेटिव रेलिजन : ह्विदर ऐण्ड ह्वाई, पृ० ३२।

२. देखें, कम्परेटिव रेलिजन, पृ० ११९-१२०।

३. वही, पृ० १२०।

धर्म को समाजशास्त्र या मानवशास्त्र की एक शाखा के रूप में स्थापित करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इन शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण योगदान को स्वीकारते हुए भी मैं ऐसा मानता हूँ कि इन्होंने धर्म को समाज के परिप्रेक्ष्य में (और फलतः उसके वाह्य रूप को) ही देखा, समझा है। धर्मों की आत्मा, उनकी प्रेरक शक्तियों से इनका साक्षात्कार नहीं हुआ है। धर्म का सर्वांगीण अध्ययन तो एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष तुलनात्मक धर्म का विभाग ही कर सकता है। सिर्फ इस अध्ययन की पद्धति समाज-विज्ञानों की पद्धति की तरह होनी चाहिए।

यहाँ एक और भ्रम की गुंजाइश है। तुलनात्मक धर्म का संबंध 'है' से होना चाहिए, 'चाहिए' से नहीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि तुलनात्मक धर्म और कुछ नहीं, सिर्फ धर्मों का इतिहास-मात्र होना चाहिए। जैसा कि पहले ही कहा गया है, धर्मो का इतिहास धर्मों के भूतकालिक अध्ययन ही प्रस्तुत करता है। धर्म एक जीवंत प्रक्रिया है और स्वभावतः इसका विकास होता रहता है। इतिहास समय की कारा में बंद धर्म की गतिविधियों का लेखा-जोखा उपस्थित कर सकता है, जबकि तुलनात्मक धर्म से ऐसे अध्ययन की अपेक्षा है, जिससे धर्मों का भूत और उनका मूल ही नहीं, प्रत्युत उनके सतत विकासशील जीवंत स्वरूप के प्रेरक तत्त्व भी प्रकाशित हों।

इस तरह इतिहास से अलग एवं समाजशास्त्र या मानवशास्त्र की शाखा के रूप में नहीं, प्रत्युत एक स्वतंत्र विभाग के रूप में तुलनात्मक धर्म के विभाग की स्थापना आज के युग की चरम आवश्यकता है।

○ ○

५. धर्म का भविष्य

डॉ० मधुसूदन प्रसाद
स्नातकोत्तर दर्शन-विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना।

विज्ञान के इस युग में धर्म एवं धार्मिक कृत्यों का महत्त्व नगण्य ही नहीं, हास्यास्पद भी हो गया है। विलियम जुरडीग ने अपनी पुस्तक 'ऐन एनालिटिकल फिलॉसफी ऑफ रिलिजन' की प्रस्तावना में ठीक ही कहा है कि "आज के युग में धर्मानुसरण करना सांस्कृतिक पिछड़ेपन की निशानी है।"[१] धर्म की दुहाई देने वालों को आज खुले रूप में गँवार, मूर्ख और पाखंडी कहा जाता है। अतः, आज की परिस्थिति में हर चिंतनशील व्यक्ति के मन में धर्म के भविष्य के संबंध में आशंका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य इसी आशंका पर विचार करना है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'धर्म का भविष्य' में 'धर्म' शब्द हिन्दू, जैन, बौद्ध, या ईसाई—किसी एक विशेष धर्म के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। प्रस्तुत निबंध में 'धर्म' शब्द का प्रयोग साधारण सामान्य अर्थ में हुआ है और इस निबंध का निष्कर्ष भी धर्म के इसी अर्थ में है।

धर्म के भविष्य के संबंध में तीन प्रकार की राय दी जा सकती है :—

[क] धर्म का कोई भविष्य नहीं, इसका अंत निकट है।

[ख] धर्म के भविष्य के संबंध में या धर्म के विषय में कोई चर्चा नहीं की जा सकती।

---

१. देखिए, एलेन ऐण्ड अनविन द्वारा प्रकाशित उक्त पुस्तक (१९५९) की प्रस्तावना, पृ० ७।

[ग] धर्म का भविष्य उज्ज्वल है। धर्म के प्रति वर्तमान अनास्था अस्थायी है, पुनः धर्म का सितारा चमकेगा।

[क]

मार्क्स और फ्रॉयड दोनों ही यह मानते हैं कि धर्म का निकट भविष्य में अन्त हो जायगा। मार्क्स के अनुसार धर्म अफीम के नशे की तरह है, जिसके प्रभाव में निर्बोध श्रमिक वर्ग अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हो जाता है और पूँजीपतियों के वर्ग द्वारा शोषित होता रहता है। चूँकि धर्म वर्ग-व्यवस्था को प्रोत्साहन देता है, इसलिए पूँजीपतियों का वर्ग इसका उपयोग मजदूरों के वर्ग के शोषण के निमित्त करता है। धर्म में विश्वास का कारण हमारी अज्ञानता है। विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के प्रसार से जब यह अज्ञान दूर हो जायगा, तो धर्म का स्वयं लोप हो जायगा और एक आदर्श वर्गहीन समाज की रचना होगी। मार्क्स के अनुसार धर्म और विज्ञान में विरोध है। विज्ञान के द्वारा ही मानव प्रगति कर सकता है, सुसंस्कृत बन सकता है। धर्म इस प्रगति में बाधा डालता है, अतः इसका उन्मूलन होना ही चाहिए।[1]

वैज्ञानिक शिक्षा की महत्ता फ्रॉयड भी मानते हैं और उनकी भी धारणा है कि ज्ञान के प्रसार द्वारा ही धर्म का अन्त होगा। किन्तु, वे धर्म को मनोवैज्ञानिक समस्या मानते हैं। मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने बतलाया कि धर्म एक प्रकार का मानसिक रोग (Neurosis) है, जिसका कारण सुरक्षाजनित मानव की स्वाभाविक इच्छा है। बाल्यावस्था से ही मानव एक सबल संरक्षण की आवश्यकता अनुभव करता है, जो उसे अज्ञात खतरों से बचाये। बाल्यावस्था में यह सुरक्षा उसे अपने पिता द्वारा मिलती है। बड़े होने पर भी प्रतिकूल परिस्थितियों एवं विषम प्राकृतिक शक्तियों के भय से वह आक्रान्त रहता है। अतः, प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने के बाद भी वह किसी-न-किसी रूप में सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करता है। यही आवश्यकता उसे धर्मरूपी भ्रम को अंगीकार करने को बाध्य करती है। फ्रॉयड के लिए यह मानव की मनोविकृति है। उनकी दृष्टि में धर्म का मानव-जीवन में वही स्थान है, जो सर्प के जीवन में केंचुए का। जिस प्रकार

---

१. देखिए, कार्ल मार्क्स ऐण्ड एफ० इन्जेल्स की 'ऑन रिलिजन' (प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को) पृ० ७-६।

एक अवस्था पहुँचने पर साँप केंचुए का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार मानव को भी प्रौढ़ावस्था में पहुँचने पर धर्म का परित्याग कर देना चाहिए। बौद्धिक विकास होने पर मानव को वस्तुस्थिति का ज्ञान अवश्य हो जायगा। अतः, 'विकास की एक अवस्था पर पहुँचने के बाद मानव धर्म का परित्याग अवश्य कर देगा'—ऐसी भविष्यवाणी की जा सकती है।[१] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि फ्रॉयड ने धर्म को भ्रम की संज्ञा दी है और वे भ्रम के अर्थ को परिभाषित भी करते हैं। यदि धर्म एक वहम है, तो अन्य वहम की तरह इस वहम का अन्त भी वास्तविकता का ज्ञान होने पर हो जायगा।

[ख]

पारलौकिक परमतत्त्व की प्राप्ति को ही मानव का परम धर्म मानते हुए कुछ धर्म-मनीषियों की धारणा है कि धर्म एक गुह्य विद्या है, जिसके स्वरूप एवं भविष्य की चर्चा अनपेक्षित है। धर्म आन्तरिक विश्वास पर आधारित है और इसका महत्त्व कथनी में नहीं, करनी में है। पाश्चात्य दार्शनिक ह्वाइटहेड भी धर्म को व्यक्ति पर—उसके एकाकीपन और आन्तरिकता पर—सीमित कर देते हैं। उनके अनुसार धर्म की वास्तविकता व्यक्ति की आन्तरिकता में है, धर्म के जातिगत तथा सामाजिक रूप तो उसके बाह्य और सतही रूप हैं। इसी कारण वे कहते हैं, "Religion is what the individual does with his own solitariness."[२] जो व्यक्ति एकाकी नहीं हो सकता, जो कुछ क्षणों के लिए भी अपने में सिमट नहीं सकता, जो अपनी आन्तरिकता को जगा नहीं सकता, उसे धार्मिक चेतना नहीं आ सकती। ह्वाइटहेड गणित और विज्ञान से प्रभावित हैं और उनके दर्शन का केन्द्र भी अनुभव है। यदि धर्म व्यक्ति की आन्तरिकता से संबंधित है, तो धर्म के भविष्य की चर्चा करना व्यर्थ होगा।

विज्ञान से प्रभावित और अनुभव को ही सभी प्रकार के चिंतन का केन्द्र मानते हुए तार्किक प्रत्यक्षवादियों एवं भाषादार्शनिकों की धारणा है कि जो अनुभवजन्य नहीं, वह अर्थहीन है। धर्म और धर्म-संबंधी वाक्य चूंकि इन्द्रिय-

---

१. देखिए, डब्ल्यू० डी० स्कॉट द्वारा अनूदित एवं लियोनार्ड ऐण्ड वर्जीनिया वुल्फ, लंदन द्वारा प्रकाशित 'फ्युचर ऑफ इल्युजन', पृ० ७६।

२. देखिए, 'रिलिजन इन मेकिंग' (कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस (१९३०) पृ० ५।

अनुभूति के परे हैं, अत: अर्थहीन हैं। भाषा-दार्शनिकों के लिए धर्म पर विचार करना समय नष्ट करना है। उनका काम भाषा का विश्लेषण करना है।

[ग]

धर्म के उज्ज्वल भविष्य में दृढ़ विश्वास रखते हुए कुछ विद्वानों का कहना है कि धर्म के प्रति वर्तमान अनास्था अस्थायी है और धर्म का पुनरुत्थान निकट भविष्य में होना निश्चित है। कुछ लोगों का तो विश्वास है कि भगवान स्वयं अवतार लेकर अधर्म का नाश और धर्म को पुनर्स्थापित करेंगे। प्राय: वे गीता के द्वारा अपने विचार की पुष्टि करते हैं। गीता में कहा गया है—

'यदा यदा हि धमस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानाय धर्मस्य तदात्मनं सृजाम्यहम ।'[१]

कुछ लोग विकासवाद की परम्परा की दुहाई देकर कहते हैं कि उतार-चढ़ाव तो प्रकृति का नियम ही है। धर्म के ह्रास की वर्तमान दशा अल्प-कालिक है, शीघ्र ही धर्म का उत्थान होगा।

ब्रॉन्स्टीन[२] इस प्रकार के विश्वास की शरण न ले कर, परिगणनात्मक (Statistical) तथ्यों का सहारा ले कर कहते हैं कि धर्म में अनास्था का युग अब समाप्त हो रहा है और अब लोगों का झुकाव पुन: धर्म के प्रति होने लगा है। उनकी धारणा धर्म-संबंधी चलचित्रों की लोकप्रियता, गिरजाघरों में बढ़ती उपस्थिति एवं धर्म के प्रति विद्यार्थियों की आस्था आदि पर आधारित है। हिप्पियों, महेशयोगी और आचार्य रजनीश के शिष्यों की बढ़ती हुई संख्या का भी उल्लेख इस संदर्भ में किया जा सकता है।

धर्म के भविष्य-संबंधी इन धारणाओं की परीक्षा करना मेरा उद्देश्य इस निबंध में नहीं है। उपर्युक्त विवरण से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि धर्म के प्रति नैराश्य या उदासीनता का भाव विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण है। धर्म के उज्ज्वल भविष्य की जैसी कल्पना धर्म-मनीषियों ने की है, उस पर आज के युग की आस्था नहीं हो सकती। ब्रॉन्स्टीन की धारणा के संबंध में यह प्रश्न उठाना अपेक्षणीय है कि धर्म के प्रति जो झुकाव आज

१. गीता ४।६।

२. ब्रॉन्स्टीन और स्कुलविस द्वारा संकलित 'ऐप्रोचेज टु दि फिलॉसफी ऑफ रिलिजन' (प्रेन्टिस हाल, (१९५५), पृ० १।

दृष्टिगोचर हो रहा है, वह परम्परावादी, अतिप्राकृतिक धर्म के प्रति है या धर्म की बदली हुई परिभाषा के प्रति है ?

धर्म के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना तभी संभव है, जब धर्म का विरोध विज्ञान से न हो या धर्म की ही परिभाषा कुछ इस प्रकार की जाय कि वह वैज्ञानिक दृष्टि के अनुकूल हो। किन्तु, सर्वप्रथम हमें यह विचार करना चाहिए कि क्या वास्तव में विज्ञान धर्म का विरोध करता है ?

हॉगवेन[1] के अनुसार विज्ञान और धर्म में घोर वैषम्य है। फ्रॉयड की तरह ही वह यह मानते हैं कि विज्ञान के प्रसार के कारण धर्म का लोप हो रहा है। प्रोफेसर ल्यूबा का विचार हॉगवेन के बिलकुल विपरीत है। वे विज्ञान और धर्म में विरोध नहीं पाते। उनकी धारणा है कि विज्ञान की परिणति धर्म में लय हो जाने में ही है। धर्म से उनका तात्पर्य गुह्य धर्म (Mystical religion) से है और विज्ञान से रहस्यानुभूति की तकनीकों में सुधार की अपेक्षा करते हैं।[2] ल्यूबा का विचार वास्तविक न होकर काल्पनिक है। विज्ञान का अतिप्राकृतिक पारलौकिक क्रियाओं से कोई संबंध नहीं। ल्यूबा विज्ञान को उसके स्वाभाविक क्षेत्र से खींच कर धर्म के लिए उपादेय बनाना चाहते हैं। वे धर्म को साध्य और विज्ञान को साधन बनाना चाहते हैं, जो अस्वाभाविक होने के साथ-साथ धर्म के लिए घातक भी हो सकता है। इस संबंध में जार्ज सन्तायना का विचार उल्लेखनीय है। उनका कहना है कि धर्म और विज्ञान का अपना अलग-अलग क्षेत्र है। जब धर्म विज्ञान का स्थान लेने का प्रयास करता है या जब विज्ञान धर्म का स्थान लेना चाहता है, तभी दोनों में संघर्ष होता है, अन्यथा नहीं। उनके अनुसार धर्म और बौद्धिक जीवन में कई बातों में साम्य है। किन्तु, वास्तविक दुःखों के निवारण के लिए धर्म जो मार्ग देता है, वह काल्पनिक है। सांसारिक दुःखों का वास्तविक निवारण वास्तविक ढंगों से ही होता है, धर्म के ढंगों से नहीं। परिणाम यह होता है कि धार्मिक प्रवचनों की नवीनता से आकर्षित हो मानव अपनी सारी उम्मीदों को उसी पर लगा बैठता है। किन्तु, कालान्तर से उसकी आँखें खुलती हैं, वह वास्तविकता को देख पाता है और उसे धार्मिक ढंगों की निस्सारता एवं काल्पनिकता समझ में आ जाती है। सन्तायना के अनुसार धर्म की विफलता

१. देखिए, 'द नेचर ऑफ लिविंग मैटर' (केगन पाल, लंदन, १९५०), पृ० २६३।

२. देखिए, 'गॉड और मैन' (हेनरी हाल्ट कं०, न्यूयार्क, १९३३), पृ० २४८।

का कारण वास्तविक रोगों के लिए धर्म का काल्पनिक निदान देना है।[१] वैज्ञानिक मनोवृत्ति और धार्मिक मनोवृत्ति में अन्तर है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति का स्तर बौद्धिक है और धार्मिक मनोवृत्ति का काल्पनिक। काल्पनिक मनोवृत्ति जब अपने को वास्तविक मानने लगे, तो यह भूल होगी।

आइन्स्टीन[२] ने धर्म और विज्ञान के बीच गहरा संबंध माना है। किन्तु, वे ल्यूबा की तरह यह नहीं कहते कि विज्ञान का लय धर्म में होना चाहिए, बल्कि वे दोनों को एक-दूसरे की प्रगति के लिए आवश्यक मानते हैं। 'धर्म के बिना विज्ञान लँगड़े की तरह पंगु है और विज्ञान के बिना धर्म अंधे की तरह है।' फिर भी, उनका विचार 'व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर' के प्रति उदार नहीं है। उनका परामर्श है कि धर्म से यदि इस कल्पना का बहिष्कार कर दिया जाय, तो धर्म का हित ही होगा। धर्म का उद्देश्य उन बौद्धिक उद्देश्यों एवं परमशुभ की प्राप्ति है, जिनसे जीवन का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठता है। धर्म के संबंध में यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक है और इसी को अपनाने से मानव अपने को स्वार्थ-भावना से ऊपर उठा सकेगा।

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान का वास्तविक विरोध धर्म की पारलौकिकता को ले कर है। अतींद्रिय ईश्वर, मृत्यु के बाद स्वर्ग और नर्क में जाने की कल्पना, अमरता आदि बातें विज्ञान को कभी मान्य नहीं हो सकतीं। धर्म यदि इन सारी मान्यताओं को लेकर चले, तो उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना असंभव है। सेलर्स स्पष्ट कहता है कि "धर्म का भविष्य पारलौकिकता को तिलाञ्जलि दे देने में ही है।"[३] किन्तु, पारलौकिकता के बिना धर्म को धर्म कहना क्या उचित होगा? धर्म को जीवन-यापन करने की विशिष्ट कला कहा गया है। यों तो विज्ञान के अनुकूल जीवन-यापन करने की कला भी धर्म की कोटि में आती है, किन्तु यह विचार धर्मानुयायियों को खटकेगा। इसका कारण यह है कि धार्मिक ग्रन्थों के प्रति सदियों से चली आई श्रद्धा और युगों से प्रचलित मूल्यों को

१. देखिए, 'दि लाइफ ऑफ रिजन,' 'रिजन इन रिलिजन' वाला भाग, कान्स्टेबल ऐण्ड कं० लिमिटेड, (१९०५), पृ० १२।

२. देखिए, आन्स्टीन और स्कुलविस की पूर्व अंकित पुस्तक में एलबर्ट आइन्स्टीन का उद्धृत निबंध, पृ० ७१।

३. देखिए, राय वूड सेलर्स कृत 'दि न्यू स्टेप इन रिलिजन' (मैकमिलन कं०, न्यूयार्क, १९१८) पृ० ११।

हम हठात् अस्वीकृत नहीं कर सकते। वर्तमान और अतीत की इस संधिवेला पर न तो तार्किक प्रत्यक्षवादियों की तरह इन मूल्यों को हम अर्थहीन ही मान सकते हैं और न फ्रॉयड और मार्क्स की तरह एक 'विभ्रम'। हम इन मूल्यों को छोड़ना नहीं चाहते हैं और साथ ही वैज्ञानिक दृष्टि भी अपनाना चाहते हैं। क्या यह संभव है ?

मेरी समझ में यह तभी संभव है, जब हम धर्म का उद्देश्य अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान देना न मानें और यह मान कर चलें कि धर्म हमारी धार्मिक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने की एक कला है। इसी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए हम नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाएँ करते हैं। जब तक हमारा बौद्धिक स्तर नीचा था, तब तक हम धर्म द्वारा प्रदत्त ईश्वर, आत्मा, अमरता आदि ज्ञान से संतुष्ट हो जाते थे। किन्तु, अब हमारा बौद्धिक स्तर काफी ऊँचा हो गया है। हम उक्त ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते। जो मान्यताएँ विज्ञान की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकतीं, उन्हें हम स्वीकार करने को विवश नहीं। अतः, धर्म का भविष्य इसी में है कि ईश्वर, परलोक, अमरता आदि की नई परिभाषाएँ की जायँ, जो विज्ञान को भी मान्य हों और हमारी मूल धार्मिक भावनाओं को भी सन्तोष प्रदान करें तथा हमें स्वस्थ एवं सुखद जीवन व्यतीत करने का मार्ग-निर्देश करें। ब्रॉन्स्टीन जब परिगणना के आधार पर यह कहता है कि कॉलेज के विद्यार्थियों का झुकाव धर्म के प्रति हो रहा है, तो उसका तात्पर्य धर्म की बदलती परिभाषा से है। अतः, धर्म का भविष्य है और वह धार्मिक तथ्यों के प्रति पुनः विचार करने में है—वैज्ञानिक ढंग से।

● ●

६. विश्व-धर्म

डॉ हरेन्द्र प्रसाद वर्मा
टी० एन० बी० कॉलेज,
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

१. विश्व-धर्म की आवश्यकता :-

सुख और शान्ति मनुष्य की शाश्वत माँग है। इसी हेतु मनुष्य धर्म की शरण में जाता है। परन्तु, दुर्भाग्यवश धर्म ने सुख-शान्ति की जितनी वृद्धि की है, उससे कहीं अधिक शोक और दुःख फैलाया है। विवेकानन्द का यह कथन कितना सत्य है—"Nothing has made the brotherhood of man more tangible than religion; nothing has bred more bitter enimity between man and man than religion. Nothing has built more charitable institutions, more hospitals for men, and even for animals, than religion; nothing has deluged the world with more blood than religion".[1]

'रेलिजन' जो 'रेलिगेयर' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है—फिर से जोड़ना—वह वास्तव में एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से, व्यक्ति को समाज से और आत्मा को परमात्मा से जोड़ने के बदले विघटन और विध्वंस का ही प्रमुख कारण रहा है।

प्राचीनकाल में, जबकि मनुष्य ने देश-काल पर विजय नहीं पाई थी, वह एक-दूसरे से अलग भी रह सकता था। उनके स्वार्थों के आपस में टकराने

---

१. विवेकानन्द, ज्ञानयोग (अद्वैताश्रम, कलकत्ता, १९६१) पृ० ३७३।

का प्रश्न नहीं था, परन्तु आज जबकि धरती सिमट कर एक छोटी-सी बस्ती बन गई है और एक छोटी-सी हलचल भी सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करती है। धर्मों को हठवादिता और आपसी कलह से मानवता की सुख-शान्ति को अत्यन्त खतरा है। इस खतरे की आशंका और धर्म के विकृत स्वरूप के कारण ही कुछ लोगों ने मानवता के हित में धर्म का अन्त कर डालने पर ही जोर दिया है। उनका सूत्र है—'न रहेगा बाँस, न बजेगी बांसुरी।' इसी कारण धर्म को नशा[1] या मानसिक रोग[2] भी कहा गया है और इससे छुटकारा पाने में ही मानवता का कल्याण सोचा गया है।

परन्तु, धर्म की विकृति से उत्पन्न दोषों को दूर करने का यह स्वस्थ प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। यह प्रवृत्ति आत्मघाती है। यह नाक पर मक्खी बैठने से मक्खी को न उड़ा कर नाक को ही काट डालने जैसा उपाय है। इससे मानवता धर्म की विकृति से मुक्त होने के बदले धर्म को ही खो देगी और धर्म के लाभकारी प्रभावों से वंचित रह जायगी। परन्तु, वास्तव में न तो धर्म को खोया जा सकता है और न तो उसके लाभकारी प्रभावों को ही ठुकराया जा सकता है। धर्म तो कोई बाह्य वस्तु है नहीं, जिसे पाया या खोया जा सके। यह तो है हमारा स्वभाव, हमारी आत्यान्तिक सत्ता (Authentic being), जिसे भूला भले ही जा सके, पर खोया नहीं जा सकता है। धर्म चूँकि हमारी प्रकृति है, इसलिए यही हमारा आधार है—यही हमें धारण करता है (धारयति इति तेन धर्मः)। हम जो हैं, वह धर्म के कारण ही हैं। यही हमें नष्ट होने से बचाता है। धर्म को—स्वरूप को—भूल जाने से ही मनुष्य दुःख-द्वन्द्व में पड़ता है। धार्मिक कलह भी धर्म की विस्मृति के कारण ही है। साथ-ही-साथ धर्म प्रेरणा का मूल स्रोत है। यह जीवन में सुख और शान्ति लाता है। अतएव, धर्म को नष्ट कर डालने का प्रयत्न निरर्थक है।

२. विश्व-धर्म का अर्थ :

विश्व-धर्म का मतलब विभिन्न धर्मों का अन्त कर किसी एक धर्म-विशेष की स्थापना करना नहीं है और न तो इससे समस्या का समाधान ही सम्भव है। जो सम्प्रदाय धर्म-परिवर्तन (Conversion) में विश्वास करते हैं, वे परोक्ष रूप से ऐसा मानते हैं कि उनका धर्म ही एकमात्र धर्म है—

उनका पथ ही सर्वोत्तम है। अतएव, मात्र उसके द्वारा ही मुक्ति संभव है। यही कारण है कि वे अन्य धर्मावलम्बियों को उनके पथ से च्युत करा कर उन्हें अपना मार्ग दिखाते हैं। ऊपर से यदि वे सभी धर्मों की एकता स्वीकार भी कर लें, तब भी भीतर-ही-भीतर वे अपने धर्म की श्रेष्ठता मानते रहते हैं। उनका मंत्र है—जबकि सभी धर्म एक-दूसरे के बराबर हैं, मेरा धर्म सबके बराबर है। (While all religions are equal to each other, my religion is equal to all) अन्यथा धर्म-परिवर्तन का सारा कार्यक्रम निरर्थक हो जाता है। कुछ लोग विश्व-धर्म से मतलब सभी धर्मों के बीच आपसी एकता स्थापित करना और "Society of religions" की स्थापना करना लगाते हैं। परन्तु, वास्तव में धर्म एक है, सत्य एक है, जीवन एक है—वह कहीं भी खंडित या विभाजित नहीं है। हमने केवल अपने सीमित और संकुचित दृष्टिकोणों के कारण उसे विभाजित कर लिया है। हरिद्वार की गंगा और बनारस की गंगा अलग-अलग नहीं है, परन्तु अलग-अलग घाटों के कारण वह अलग-अलग मान ली जा सकती है। इसी प्रकार धर्म एक है, परन्तु अज्ञान और अहंकार के कारण वह विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है। सम्प्रदाय अनेक हैं और अनेकता में द्वन्द्व स्वाभाविक है। परन्तु, सम्प्रदाय धर्म के शरीर मात्र हैं—वे उसकी आत्मा नहीं हैं। जो सम्प्रदायों को ही सत्य मान लेते हैं, वे धर्म को नहीं पा सकते। फलस्वरूप वे सम्प्रदायों के संघर्ष में पड़ जाते हैं। जो उसकी आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं, वे सम्प्रदायों के बाह्य आडम्बरों से मुक्त हो कर धर्म की उपलब्धि कर सभी विरोधों और द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि सार में कहीं कोई भेद नहीं है। अतएव, विश्व-धर्म की स्थापना का अर्थ विभिन्न सम्प्रदायों के बीच एकता लाना नहीं, बल्कि उनकी आत्मा तक—धर्म तक—सार तक पहुँचना है, जहाँ सभी भेद-भाव स्वतः समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक धर्म देश-काल की सीमाओं से परे है, अतएव उसकी उपलब्धि व्यक्ति को भी सार्वभौम बना देती है। धार्मिक मनुष्य किसी देश-काल, जाति या सम्प्रदाय का मनुष्य नहीं होता है, बल्कि वह एक विश्व-मानव होता है, जो मानव-मात्र की मुक्ति के लिए बिना किसी हेतु के प्रयत्नशील रहता है।[१]

---

१. शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्ताः वसन्तवच्च लोक हिताय चरन्तः
तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवम अहेतुनानपि तारयन्ति अन्य जनानपि। शंकराचार्य, विवेकचूड़ामणि।

का प्रश्न नहीं था, परन्तु आज जबकि धरती सिमट कर एक छोटी-सी बस्ती बन गई है और एक छोटी-सी हलचल भी सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करती है। धर्मों की हठवादिता और आपसी कलह से मानवता की सुख-शान्ति को अत्यन्त खतरा है। इस खतरे की आशंका और धर्म के विकृत स्वरूप के कारण ही कुछ लोगों ने मानवता के हित में धर्म का अन्त कर डालने पर ही जोर दिया है। उनका सूत्र है—'न रहेगा बाँस, न बजेगी बांसुरी।' इसी कारण धर्म को नशा[१] या मानसिक रोग[२] भी कहा गया है और इससे छुटकारा पाने में ही मानवता का कल्याण सोचा गया है।

परन्तु, धर्म की विकृति से उत्पन्न दोषों को दूर करने का यह स्वस्थ प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। यह प्रवृत्ति आत्मघाती है। यह नाक पर मक्खी बैठने से मक्खी को न उड़ा कर नाक को ही काट डालने जैसा उपाय है। इससे मानवता धर्म की विकृति से मुक्त होने के बदले धर्म को ही खो देगी और धर्म के लाभकारी प्रभावों से वंचित रह जायगी। परन्तु, वास्तव में न तो धर्म को खोया जा सकता है और न तो उसके लाभकारी प्रभावों को ही ठुकराया जा सकता है। धर्म तो कोई वाह्य वस्तु है नहीं, जिसे पाया या खोया जा सके। यह तो है हमारा स्वभाव, हमारी आत्यान्तिक सत्ता (Authentic being), जिसे भूला भले ही जा सके, पर खोया नहीं जा सकता है। धर्म चूँकि हमारी प्रकृति है, इसलिए यही हमारा आधार है—यही हमें धारण करता है (धारयति इति तेन धर्मः)। हम जो हैं, वह धर्म के कारण ही हैं। यही हमें नष्ट होने से बचाता है। धर्म को—स्वरूप को—भूल जाने से ही मनुष्य दुःख-द्वन्द्व में पड़ता है। धार्मिक कलह भी धर्म की विस्मृति के कारण ही है। साथ-ही-साथ धर्म प्रेरणा का मूल स्रोत है। यह जीवन में सुख और शान्ति लाता है। अतएव, धर्म को नष्ट कर डालने का प्रयत्न निरर्थक है।

२. विश्व-धर्म का अर्थ :

विश्व-धर्म का मतलब विभिन्न धर्मों का अन्त कर किसी एक धर्म-विशेष की स्थापना करना नहीं है और न तो इससे समस्या का समाधान ही सम्भव है। जो सम्प्रदाय धर्म-परिवर्तन (Conversion) में विश्वास करते हैं, वे परोक्ष रूप से ऐसा मानते हैं कि उनका धर्म ही एकमात्र धर्म है—

१. मार्क्स, "Religion is an opeate to the masses".

२. फ्रॉयड, "Religion is the mass obssessional neurosis of mankind and is bound to disappear with the knowledge of reality". (*Civilization and its Disconents*, 1930, p. 23.)

उनका पथ ही सर्वोत्तम है। अतएव, मात्र उसके द्वारा ही मुक्ति संभव है। यही कारण है कि वे अन्य धर्मावलम्बियों को उनके पथ से च्युत करा कर उन्हें अपना मार्ग दिखाते हैं। ऊपर से यदि वे सभी धर्मों की एकता स्वीकार भी कर लें, तब भी भीतर-ही-भीतर वे अपने धर्म की श्रेष्ठता मानते रहते हैं। उनका मंत्र है—जबकि सभी धर्म एक-दूसरे के बराबर हैं, मेरा धर्म सबके बराबर है। (While all religions are equal to each other, my religion is equal to all) अन्यथा धर्म-परिवर्तन का सारा कार्यक्रम निरर्थक हो जाता है। कुछ लोग विश्व-धर्म से मतलब सभी धर्मों के बीच आपसी एकता स्थापित करना और "Society of religions" की स्थापना करना लगाते हैं। परन्तु, वास्तव में धर्म एक है, सत्य एक है, जीवन एक है—वह कहीं भी खंडित या विभाजित नहीं है। हमने केवल अपने सीमित और संकुचित दृष्टिकोणों के कारण उसे विभाजित कर लिया है। हरिद्वार की गंगा और बनारस की गंगा अलग-अलग नहीं है, परन्तु अलग-अलग घाटों के कारण वह अलग-अलग मान ली जा सकती है। इसी प्रकार धर्म एक है, परन्तु अज्ञान और अहंकार के कारण वह विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो जाता है। सम्प्रदाय अनेक हैं और अनेकता में द्वन्द्व स्वाभाविक है। परन्तु, सम्प्रदाय धर्म के शरीर मात्र हैं—वे उसकी आत्मा नहीं हैं। जो सम्प्रदायों को ही सत्य मान लेते हैं, वे धर्म को नहीं पा सकते। फलस्वरूप वे सम्प्रदायों के संघर्ष में पड़ जाते हैं। जो उसकी आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं, वे सम्प्रदायों के वाह्य आडम्बरों से मुक्त हो कर धर्म की उपलब्धि कर सभी विरोधों और द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि सार में कहीं कोई भेद नहीं है। अतएव, विश्व-धर्म की स्थापना का अर्थ विभिन्न सम्प्रदायों के बीच एकता लाना नहीं, बल्कि उनकी आत्मा तक—धर्म तक—सार तक पहुँचना है, जहाँ सभी भेद-भाव स्वतः समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक धर्म देश-काल की सीमाओं से परे है, अतएव उसकी उपलब्धि व्यक्ति को भी सार्वभौम बना देती है। धार्मिक मनुष्य किसी देश-काल, जाति या सम्प्रदाय का मनुष्य नहीं होता है, बल्कि वह एक विश्व-मानव होता है, जो मानव-मात्र की मुक्ति के लिए बिना किसी हेतु के प्रयत्नशील रहता है।[१]

---

१. शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्ताः वसन्तवच्च लोक हिताय चरन्तः
तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवम अहेतुनानपि तारयन्ति अन्य जनानपि। शंकराचार्य, विवेकचूडामणि।

३. विश्व-धर्म की स्थापना के विभिन्न प्रयत्न :

प्रारंभिक काल से आधुनिक युग तक विश्व-धर्म की स्थापना के कई प्रयत्न हुए हैं। इस समस्या का समाधान कई दृष्टिकोणों से किया गया है। विश्व-धर्म की स्थापना का एक प्रयत्न सापेक्षतावादी (Religious relativision) है। इस मत के अनुसार धर्मों की भिन्नता और विरोध एक ही सत्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने के कारण है। सभी धर्म अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य का दर्शन हैं। सत्य अनन्त है और उसे देखने के दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न हैं। अतएव, प्रत्येक मत अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य है। एक ही मकान अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने पर अलग-अलग मालूम पड़ता है। यदि विभिन्न दृष्टिकोणों से उसका चित्र लिया जाय, तो प्रत्येक चित्र एक-दूसरे से भिन्न मालूम पड़ेगा। परन्तु, सभी चित्र अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य होगा। सम्पूर्ण सत्य इन सभी सापेक्ष दृष्टियों के समन्वय से उपलब्ध होगा। इसी प्रकार सभी धर्मों में सापेक्ष सत्यता है। सभी धर्म अपने-अपने दृष्टिकोणों से सत्य हैं। सभी एक ही सत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसे जैनियों ने सात अंधे और हाथी के दर्शन की उपमा द्वारा समझाया है। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी माना है कि प्रत्येक धर्म उनके लिए सत्य है, जो उसमें विश्वास करते हैं। (All religions are true to the persons who have belief in them.)

सभी उपासना अलग-अलग रीति से एक ही सत्ता की उपासना है। अतएव, सभी धर्म आदर के योग्य हैं। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में—

> "All sincere religious worship is a worship of the Supreme, Who responds to every call to reach His unreachable heights. Even as we approach, so does the Divine receive."[1]

सापेक्षतावादी मानते हैं कि मनुष्य की रुचि, स्वभाव, मनोवृत्ति इत्यादि में मौलिक भिन्नता है, अतएव सबों के लिए एक ही पथ रुचिकर नहीं हो सकता है और न तो सबों का आध्यात्मिक लक्ष्य ही एक हो सकता है। युंग के अनुसार जैसा मनुष्य होता है, वैसा ही उसका देवता होता है और वैसी ही उसकी उपासना-पद्धति होती है। अतएव, विश्व-धर्म की स्थापना का मतलब सभी धर्मों को साथ-साथ फूलने-फलने देना है। विवेकानन्द मानते हैं कि

---

१. Eastern Religion and Western Thought (London : Oxford University Press, 2nd Ed. 1940, p. 320.)

क्षुधातृप्ति के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि भोजन परोस दिया जाय, बल्कि जो जिस रीति से खाते हैं, उन्हें उसी रीति से खाने दिया जाय। कोई हाथ से खाते हैं, कोई छुरी-काँटे से तो कोई सीक से। जो जिस विधि से खाते हैं, उन्हें उसी विधि से खाना दिए जाने से परितृप्ति होगी। साथ-ही-साथ, एक ही भोजन से भी सबों को समान सन्तोष नहीं मिल सकता है। कोई भात खाना पसन्द करता है, तो कोई रोटी। जिस होटल में जितने प्रकार की भोज्य-सामग्री होगी, लोगों को क्षुधातृप्ति का उतना ही अधिक अवसर मिलेगा। इसी प्रकार सभी को एक ही धर्म रुचिकर नहीं हो सकता है, संसार में जितने ही अधिक प्रकार के धर्म होंगे, लोगों को धार्मिक होने का उतना ही अधिक अवसर मिलेगा। जिस प्रकार कोई भी भोजन अपने-आप में अच्छा या बुरा नहीं है, बल्कि उसकी अच्छाई और बुराई व्यक्ति की अभिरुचि पर आश्रित है, उसी प्रकार कोई भी धर्म अच्छा या बुरा, बड़ा या छोटा नहीं है, बल्कि जो जिसके लिए रुचिकर है, वही उसके लिए अच्छा है। सभी धर्म समान हैं। अतएव, सबों के प्रति सहिष्णुता का भाव होना चाहिए तथा 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त अपनाना चाहिए, इससे ही विश्व-धर्म की स्थापना सम्भव है। महात्मा गांधी ने भी माना था कि सभी धर्मों का समान महत्त्व है।[१] एक ही परमात्मा विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, इसीलिए उन्होंने 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' कहा था। रामकृष्ण परमहंस ने भी माना था कि 'जितने मत हैं उतने पथ हैं' (जेतो मत तेतो पथ)। परमात्मा तक पहुँचने के बहुत-से वैकल्पिक पथ हैं; सभी एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, उनमें से किसी भी एक पथ का अवलम्बन कर मनुष्य परमात्मा तक पहुँच सकता है। सभी पथों का समान अर्थ और महत्त्व है, कोई योग्य या अयोग्य नहीं है।

---

१. Mahatma Gandhi, "It has been my experience that I am always true from my point of view, and often wrong from the point of view of my honest critics. I know that we are both right from our respective points of view. And this knowledge saves me from attributing motives to my apponents or critics. The seven blind men who gave seven different descriptions of the elephant were all right from their respective points of view. I very much like this doctrine of....

परन्तु, सापेक्षतावादी सिद्धान्त के साथ कठिनाई यह है कि यह बहुत-से विछिन्न चित्रों को एक साथ जोड़ कर सत्य के सम्पूर्ण चित्र को पाने की आशा करता है। परन्तु, कितने भी सापेक्षों को एक साथ जोड़ा क्यों न जाय, उनसे निरपेक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती है। निरपेक्ष सत्य की उपलब्धि के लिए सभी सापेक्ष दृष्टिकोणों से परे जाना—उनसे मुक्त होना आवश्यक है। सभी कोणों से मुक्त होने पर वह दृष्टि उपलब्ध होती है, जिससे वह जाना जाता है, जो कि है। अतएव, इन मतवादों का महत्त्व प्रारंभिक और सापेक्ष है। इनका महत्त्व उतना ही है, जितना अर्थ को जानने के लिए अक्षरों का या छत पर चढ़ने के लिए सीढ़ी का। छत पर चढ़ जाने के बाद सीढ़ी का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है, वह निरर्थक हो जाती है; उसी प्रकार सत्य की उपलब्धि हो जाने पर मतवादों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है, वे स्वतः छूट जाते हैं। सत्य की उपलब्धि के लिए मतों और पक्षों से मुक्त हो जाना आवश्यक है। निष्पक्ष हो कर ही कोई सत्य को जान सकता है। पक्ष का आग्रह प्रबल होने से सत्य ही छूट जाता है। परमात्मा—जो अरूप और अनाम है, उसे हम एक नाम दे देते हैं—एक रूप दे देते हैं और फिर नाम और रूप को लेकर झगड़ पड़ते हैं। बीचबचाव करने वाले कहने लगते हैं कि राम-रहीम दोनों उसी के नाम हैं। परन्तु, वास्तविकता तो यह है कि उसका कोई नाम ही नहीं है, अतएव नामरूप को लेकर सभी संघर्ष निरर्थक है। जो इस सत्य को जानता है, वह सभी संघर्षों से मुक्त रहता है।

कुछ विचारकों ने विश्व-धर्म की स्थापना के लिए विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study of Religion) का सहारा लिया है और भिन्नताओं के बीच एकता ढूँढ़ने का प्रयास किया है। डॉ० भगवानदास ने

---

manyness of reality. It is this doctrine that has taught me to judge a Mussalman from his own stand point and a Cristian from his. Formerly, I used to resent the ignorance of my opponents. Today I can love them because I am gifted with the eye to see myself as others see me and vice versa. I want to take the whole world in the embrace of my love. My anekautavada is the result of the twin doctrine of *Satya* (i. e., truth) and *ahimsa* (i. e , love)." [*Young India*, March 3, 1925.]

अपने 'एसेन्सियल युनिटि ऑफ ऑल रेलिजन्स' में यह दिखाने की चेष्टा की है कि विभिन्न धर्म विभिन्न भाषाओं में एक ही सत्य को उद्घाटित करते हैं। सबों का सिद्धान्त एक ही है, केवल उनके कहने के ढंग में भिन्नता है। विभिन्न धर्मग्रन्थों से उद्धरण एकत्र कर उन्होंने यह साबित करने की चेष्टा की है कि सभी धर्म सारत: एक ही बात कहते हैं। इसी प्रकार धार्मिक क्रियाकलापों में भी बहुत समता पायी जाती है। विभिन्न धर्मों का सार एक ही है, यह उनके हिन्दू और इस्लाम धर्म की तुलना से स्पष्ट है—इस्लाम का मुख्य विश्वास है—अल्लाह सर्वोपरि है, मुहम्मद मुख्य पैगम्बर हैं तथा उनके अलावे भी और कई पैगम्बर हैं, कुरान अल्लाह का वचन है, कयामत को आखिरी फैसला होगा, अल्लाह सर्वज्ञ है। साथ-ही-साथ, इस्लाम में निम्नलिखित कार्यों को करने का आदेश है : सलात या नमाज, रोजा, जकात, हज जेहाद, ईद-उल-फितर, ईदुल जोहा और मुहर्रम। ठीक इसी प्रकार हिन्दू धर्म का सार है—यह विश्वास कि परमेश्वर सर्वोच्च है, कृष्ण प्रमुख अवतार हैं तथा उनके अलावे भी बहुत-से अवतार हैं, वेद ईश्वर का वचन है, यम कर्मों के अनुसार निर्णय देता है तथा पुनर्जन्म होता है। चित्रगुप्त सर्वज्ञ हैं तथा उनका निर्णय बिलकुल सही होता है। साथ-ही-साथ, इसमें भी कुछ क्रियाकलापों को करने का आदेश है, जैसे—सन्ध्या-वन्दना, व्रत-उपवास, एकादशी, दान, तीर्थयात्रा और धर्म-रक्षा। अतएव, सभी धर्मों का मूल-मंत्र एक ही है।

समन्वयवादी मानते हैं कि सभी धर्मों में मूल की एकता है। सबों का उदगम् एक ही प्रेरणास्रोत से होता है। सभी व्यक्तियों में ज्ञान की, शान्ति की, आनन्द की, अमरत्व की अभीप्सा है (तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद् गमय, मृत्योर्माअमृतम् गमय), जो उन्हें धर्म की ओर प्रेरित करता है। स्वस्थापन की प्रवृत्ति उसे आत्मबोध की ओर प्रवृत्त करती है।

साथ-ही-साथ, सभी धर्मों का लक्ष्य भी एक ही है। सभी धर्म अपनी-अपनी विधि से एक ही परमात्मा की उपलब्धि करना चाहते हैं। परमात्मा ही सभी धर्मों का लक्ष्य है। रामकृष्ण परमहंस के अनुसार अलग-अलग आदमी नदी से पानी लेने जाता है, कोई लोटा लेकर, कोई बाल्टी लेकर, कोई मशक लेकर, सभी अपने-अपने पात्र के आकार में जल लेकर आते हैं। ये आकार भिन्न होते हैं। परन्तु, जो जल भरा होता है, वह सबों में एक

होता है। चूँकि विभिन्न व्यक्तियों की अभिरुचि, क्षमता और योग्यता भिन्न होती है, इसलिए उनका प्रस्थान-विन्दु भी भिन्न-भिन्न होता है। रुचिवैचित्र्य से प्रस्थानभेद होता है। शंकराचार्य ने लिखा है—जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ अलग-अलग उद्गम स्थानों से निकल कर अन्ततोगत्वा सभी सागर में मिल जाती हैं, उसी प्रकार सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव इत्यादि विभिन्न मत रुचिभेद से अलग-अलग प्रस्थान-विन्दुओं से प्रारंभ होकर अन्त में परमात्मा में ही मिल जाते हैं।[१]

इसी प्रकार कुछ लोगों के अनुसार विभिन्न धर्मों के बीच जो भेद है, वह मात्र नामरूप का है। सत्य एक ही है—परमात्मा एक ही है—केवल उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। ऋग्वेद के अनुसार सत्य एक ही है, केवल ज्ञानी उसे अग्नि यम मातरश्विन इत्यादि विभिन्न नामों से पुकारते हैं (एकम् सद् विप्रा वहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरश्विनमाहु। १।१६४।४६)। रामकृष्ण परमहंस के अनुसार अलग-अलग घाटों पर एक अंग्रेज पानी पीता है, एक मुसलमान और एक हिन्दू, कोई उसे 'वाटर' कहता है कोई 'आब' और कोई 'जल', परन्तु वस्तु एक ही है। परमात्मा भी विभिन्न नामों से पूजित हो रहा है, परन्तु वास्तव में वह एक ही है। योगी श्रीकृष्ण प्रेम ने लिखा है कि यह भेद केवल अनुभव द्वारा ही मिटाया जा सकता है। अनुभव होने के वाद पता लगता है कि जो सगुण है, वही निर्गुण भी है। उपनिषद् की आत्मा और बुद्ध की अनात्मा में कोई वास्तविक भेद नहीं है।

"When the light of experience streams in and fills the empty concepts, than and then does recognition flow in like a sea and we can *know* why the above words are used.........:... Then we can know why the *atma* of the Upnishad means ***the same as the anatma*** of the Buddha and in a flash be free from the empty scholastic disputes that have filled the millennia".[२]

---

१. "त्रयी सांख्य योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति भिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमितिच
रुचिनां वैचित्र्या दृजु कुटिल नानां पथ जुषां नृणमेको गम्यस्त्वमसि पय सामर्णव व।।"

२. दिलीप कुमार राय द्वारा उद्धृत, योगी श्रीकृष्ण प्रेम, (भारतीय विद्या भवन, बम्बई ७, १९१८, पृ० १८-१९।)

कुछ लोगों के अनुसार धार्मिक विश्वासों और ईश्वर की धारणा में भेद केवल धार्मिक चेतना के विकासक्रम के कारण है। विभिन्न विश्वास और धारणाएँ यह दिखाती हैं कि वे धार्मिक विकास की अलग-अलग सीढ़ियों पर हैं। उनकी भिन्नता केवल विकासक्रम के कारण है। जैसे—किसी दौड़ते हुए मनुष्य की तस्वीर ली जाय, तो प्रत्येक तस्वीर एक-दूसरे से भिन्न होगी, फिर भी उनमें भिन्नताओं के बीच भी एकता होगी; क्योंकि सभी चित्र एक ही मनुष्य के चित्र हैं। विवेकानन्द ने लिखा है—"Suppose a man is journeying towards the sun, and as he advances, he takes a photograph of the sun at every stage. When he comes back, he has many photographs of the sun, which he places before us. We see that not two are alike, and yet who will deny that all these are photographs of the same sun, from different stand points ?"[१]

ईश्वर ही वह धागा है, जो विभिन्न रंगों की मणियों को एक सूत्र में पिरोए हुए है। बच्चे और बूढ़े में भिन्नता हो सकती है, परन्तु बूढ़ा बच्चे का विरोधी नहीं है। दोनों परस्परपूरक हैं।

धार्मिक विश्वासों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विश्व-धर्म की स्थापना का प्रयत्न सतही है। इसके द्वारा प्राप्त एकता भी सतही ही है। वास्तविक एकता का दर्शन तो गहरे पैठने से या धार्मिक अनुभव प्राप्त करने से ही सम्भव है। साथ-ही-साथ, एकता ढूँढ़ने का यह प्रयास बौद्धिक है। बुद्धि एकता की धारणा भले ही प्रदान करती हो, परन्तु वह जीवन में कोई क्रान्ति नहीं ला पाती है। वास्तविक क्रान्ति और संपरिवर्तन तो बस बोध द्वारा ही संभव है। यही कारण है कि साम्प्रदायिक संघर्ष की वास्तविक परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर बहुत-से विचारक व्यामोह में पड़ जाते हैं।

विश्व-धर्म की स्थापना के लिए सब से आवश्यक समझदारी यह होगी कि सम्प्रदाय धर्म नहीं है। सम्प्रदाय अनेक हैं, परन्तु धर्म एक है। सम्प्रदाय मात्र वाह्याडंवर हैं, वे धर्म नहीं हैं। सम्प्रदाय धर्म के शरीर-मात्र हैं, वे उसकी आत्मा नहीं हैं। शारीरिक दृष्टिकोण से अनेकों भिन्नताएँ हो सकती हैं, परन्तु आत्मा के तल पर एकता है। शब्द और अज्ञान मिल कर सम्प्रदाय का निर्माण करते हैं। सत्य एक है, परन्तु इसे अनेक शब्दों द्वारा व्यक्त किया

---

१. ज्ञानयोग, पृ० ३८३।

जाता है। वास्तव में सत्य शब्दों द्वारा अभिव्यक्त होता भी नहीं है। जहाँ सभी शब्द, सभी विचार, सभी विकल्प पीछे छूट जाते हैं, वहाँ उस निःशब्द, निर्विचार और निर्विकल्प चेतना में उसका दर्शन होता है जो कि है। शब्द तो सत्य की ओर संकेत करने वाले अधूरे संकेत हैं, शब्दों को पकड़ लेने से सत्य ही छूट जाता है। अनेकों उंगलियाँ एक ही चाँद की ओर संकेत करती हैं। जो उंगलियों पर ही दृष्टि जमा देते हैं, वे चाँद का दर्शन नहीं कर सकते। शब्दों के प्रति आग्रह होने से शब्द की ही मीमांसा प्रारंभ हो जाती है, जैसा आधुनिक विश्लेषणवादी भी कर रहे हैं। फल यह होता है कि शब्दों को लेकर ही कलह शुरू हो जाता है और सत्य पृष्ठभूमि में चला जाता है। शब्दों का सही अर्थ तो मात्र सत्यानुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है। सत्य को पाने के लिए शास्त्रीयता का त्याग अनिवार्य है। सत्य का बोध नहीं रहने पर सभी अपने-अपने मनोभावों के अनुरूप शास्त्र का अर्थ करते हैं, फलस्वरूप एक ही शास्त्र के अनेक अर्थ हो जाते हैं। जबकि शब्द शास्त्रों का होता है, उनमें अर्थ मेरा और आपका होता है। उनमें मैं और आप होते हैं। ईसा और मुहम्मद का झगड़ा, शंकर और बुद्ध का झगड़ा वास्तव में उनका झगड़ा नहीं, बल्कि मेरा और आपका झगड़ा है, जो हम उनके नाम पर लड़ रहे हैं। विश्व-धर्म की स्थापना के लिए सम्प्रदायों, शब्दों और शास्त्रीयता का त्याग कर मात्र सत्यान्वेषण पर जोर देना होगा।

दूसरी बात यह कि धर्म को विश्वास पर आधारित न कर सन्देह, जिज्ञासा और ज्ञान पर आधारित करना होगा। विश्वास या मान्यता अलग-अलग हो सकती है, परन्तु ज्ञान अलग-अलग नहीं हो सकता। यही कारण है कि जबकि धर्म अलग-अलग हैं, विज्ञान एक ही है; क्योंकि वह सन्देह और ज्ञान पर आधारित है। धर्म को विश्वास नहीं, बल्कि विज्ञान बनाना होगा। धर्मों में आपसी भिन्नता और विरोध इसलिए है कि वह विश्वास पर आधारित है और विश्वास स्वभावतः अनेक हैं। विश्वास अन्धा होता है और अन्धे मनुष्यों में हठवादिता होना, उनका झगड़ पड़ना कोई अस्वाभाविक नहीं है। सभी अपने-अपने विश्वासों को ही सही मानते हैं, चाहे वह कितना भी हास्यास्पद क्यों न हो। सभी एक-दूसरे के विश्वासों को गलत मानते हैं। जब ईसाई कहते हैं कि ईश्वर कबूतर के रूप में धरती पर आया, तो यह हिन्दुओं को हास्यास्पद लगता है और जब हिन्दू कहता है कि ईश्वर ने वराह और नृसिंह के रूप में अवतार लिया, तो यह मुसलमानों को हास्यास्पद

लगता है। परिणाम यह होता है कि विश्वासों को लेकर संघर्ष शुरू हो जाता है। केवल ज्ञान में ही एकता हो सकती है। ईसाई विश्वास और हिन्दू विश्वास अलग-अलग हो सकते हैं, परन्तु हिन्दू गणित और ईसाई गणित अलग-अलग नहीं हो सकता। अतएव, धार्मिक एकता की स्थापना के लिए भी विश्वास का आग्रह तोड़ कर धर्म को ज्ञान पर—सत्यानुभूति पर आधारित करना होगा। विश्वास वास्तव में गलत प्रस्थान है। सच पूछा जाय, तो यह प्रस्थान है ही नहीं। यह अन्तिम है, प्रारंभिक नहीं। तुलसीदास ने ठीक ही कहा है—

जानें बिनु न होहिं परतीति।

बिनु परतीति न होहिं सप्रीति ॥ (रामचरितमानस, उत्तर काण्ड ८८।४)

यह मानना भी उतना युक्तियुक्त नहीं है कि सभी पथ परमात्मा तक ही ले जाते हैं। वास्तव में परमात्मा तक पहुँचने के लिए कोई पथ है ही नहीं। इसके लिए जो आवश्यक है, वह है सभी पथों की सार्थकता का भ्रम-भंग। कृष्णमूर्ति ने ठीक ही कहा है :—

"Truth is a pathless zone and therein lies the beauty of Truth".[१]

यदि कहीं अन्य तक पहुँचना हो, तो पथ की आवश्यकता होती है। परन्तु, यदि अपने-आप तक पहुँचना हो, तो पथ की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि सभी पथ—सभी दूरी समाप्त हो जाती है। धर्म दौड़ना नहीं, बल्कि रुकना और देखना है। सभी दौड़ अपने से बाहर ले जाते हैं, चाहे वह दौड़ धर्म की हो या धन की। जहाँ सब दौड़ समाप्त हो जाती है, वहाँ वह है—जो है। जहाँ

---

१. श्रीकृष्णप्रेम ने भी लिखा है—"Men have described a hundred paths but none of them seems to be the true path. The true path is through the sky and so has no landmarks and no descriptions. All described paths are but the tracings on the earth of the shadow of one who has gone in the sky. No one can follow him by following them. But how to grow wings and fly? Is it perhaps that wings begin to sprout when all else is despaired of?" (*Yogi Sri Krishna Prem*, pp. 194-195).

सभी रास्ते शून्य हो जाते हैं, वहीं परमात्मा है। धर्म दौड़ना नहीं, बल्कि शान्त हो जाना है। बुद्ध ने ठीक कहा है—"निर्वाणं शान्तं"। दौड़ने की दिशाएँ अनेक हो सकती हैं, परन्तु रुकना कई दिशाओं में नहीं हो सकता—वहाँ दिशाएँ शून्य हो जाती हैं। वहीं पर एकता हो सकती है। अतएव, यही कथन उचित प्रतीत होता है कि सत्य का कोई पथ नहीं है। कबीर ने ठीक ही लिखा है—

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कछु होंहि विदेश।
तन मैं मन मैं नैन मैं, तोको कहाँ सन्देश॥

जहाँ पथ की खोज है, वहाँ एक द्वैत है। वहाँ पथिक है, पथ है और है मंजिल। जहाँ द्वैत है—भेद है—वहाँ एक द्वन्द्व है। अतएव, वहाँ एकत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। जहाँ कुछ होने की वासना है, वहाँ मनुष्य अपने-आप से—अपने वास्तविक स्वरूप से दूर ही होता जाता है। कुछ भी होना अपने से भिन्न होना है। जब कुछ होने की वासना समाप्त हो जाती है, तो स्वभावतः उसमें स्थिति हो जाती है जोकि है और उस है में पूर्ण एकता है। उस है में स्थिति ही धर्म है। अतएव, धर्म में कहीं कोई भेद नहीं है। धर्म की उपलब्धि मात्र से ही सारे भेद, सारे द्वन्द्व, सारे संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं। पथ की खोज मात्र भ्रमित चित्त की भ्रान्ति है। जो अन्धकार में हैं, व्यामोह में हैं, वे ही इधर-उधर भटकते हैं और पथ-परिवर्तन करते रहते हैं। जो प्रकाश में हैं, उनमें न भटकाव है और न तो पथ-परिवर्तनजन्य प्रयत्न और भूल। वे तो बस शान्त द्रष्टा हो जाते हैं। उस स्थिति में अनेकता और भिन्नता नहीं रहती।

धर्म सामूहिक नहीं, बल्कि नितांत वैयक्तिक है। इसी कारण प्लोटिनस ने इसे "Flight of the alone to the Alone" कहा है और ह्वाइटहेड ने धर्म की परिभाषा देते हुए कहा है कि "Religion is what a man does in his solitariness"। धर्म एक व्यक्तिगत खोज है, जिसमें व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना होता है। धर्म दिया नहीं जा सकता है। कोई गुरु, कोई शास्ता, कोई पैगम्बर किसी को धार्मिक नहीं बना सकता है। धर्म के रास्ते में अपने पैरों पर ही चलना होता है। धर्म में जब गुरु का आग्रह प्रधान होता है, तो वह भी संघर्ष का प्रमुख कारण बन जाता है। सभी अपने-अपने गुरु को बड़ा मानते हैं। ईसाई मानते हैं कि जो जीसस ने कहा, वही एकमात्र सत्य है। मुसलमान मानते हैं कि जो मुहम्मद ने कहा, वही अन्तिम सत्य है। फलस्वरूप संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। विश्वास के आग्रह की तरह गुरु का आग्रह भी बन्धन बन जाता है।

गुरु अनेक हैं और उनका कथन भी अनेक होगा। अतएव, एकता की प्राप्ति के लिए किसी के कथन को न मान कर स्वयं सत्य की खोज करना अपेक्षित है। धर्मों में मतभेद इसलिए है कि धर्म सुनी-सुनाई बातों पर आधारित है। सत्य के पथ में "आत्म दीपो भव" यही मूल मंत्र है। आत्मा ही एकमात्र गुरु है। ज्ञान स्वतः आता है। कोई हवा को बुला नहीं सकता, वह स्वयं आती है, केवल खिड़की खुली रखनी होती है। गुरु प्यास जगा सकता है, बाधाओं को दूर कर सकता है, ज्ञान आने की आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है, परन्तु ज्ञान नहीं दे सकता। जो दूसरों को ज्ञान सिखाने का दावा और प्रयत्न करते हैं, वे भूल करते हैं। विवेकानन्द ने ठीक ही लिखा है—"Give up all idea that you can make men spiritual. It is impossible. There is no other teacher to you than your own soul."[१]

गुरु का काम मात्र धाई का काम है; वह जो व्यक्ति में बीज रूप में निहित है, केवल उसे ही प्रकाशित कर सकता है। अतएव, गुरु का महत्व बहुत अधिक नहीं है। ज्ञान पाने के लिए चित्त को खुला होना—सभी आग्रहों से मुक्त होना आवश्यक है। ऋग्वेद के अनुसार हमें सभी सत्य विचारों का आदर करना चाहिए, चाहे वह किसी भी स्रोत से आवे। (आनो भद्राः ऋत्वो यन्तु विश्वतः। १।८९।१।) जैसे चिकित्सक वही अच्छा है, जो जानकार हो और चंगा कर सकता हो, उसी प्रकार गुरु वही है, जो ज्ञानी हो। जैसे बीमार हिन्दू डाक्टर और मुसलमान डाक्टर में भेद नहीं करते हैं, बल्कि जहाँ उनकी चिकित्सा हो सकती हो, वहीं जाते हैं, उसी प्रकार सत्यार्थी हिन्दू गुरु और मुसलमान धर्मगुरु में भेद नहीं करते हैं, बल्कि सत्य जहाँ भी उपलब्ध होता है, उसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि विश्व-धर्म की स्थापना के लिए पथ का आग्रह, सम्प्रदाय का आग्रह, शास्त्र का आग्रह और शास्ता का आग्रह त्यागना आवश्यक है। इन आग्रहों से मुक्ति सत्य के प्रति जागने और सत्य में जीने से ही संभव है। सत्यानुभूति से ही सही अर्थों में विश्व-धर्म की स्थापना हो सकती है। सत्य सहज ही सभी भेदों और द्वन्द्वों से मुक्त कर देता है। बाइबिल ने ठीक ही कहा है—"Ye shall know the truth, and truth shall make you free". (Gospel).

१. ज्ञानयोग, पृ० ४१४।

एकमात्र परमात्मा की अनुभूति से ही सारी विषमताएँ दूर हो जाती हैं। इसी कारण गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

सर्व धर्माण परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्व पापेभ्यः मोक्ष्यस्यामि।

और यही विश्व-धर्म की स्थापना का मूलमंत्र है। धर्म का ज्ञान ही धर्मों के भ्रम से छुटकारा दिला सकता है।

●●

७. विश्व-धर्म की धारणा

केदारनाथ तिवारी
दर्शन-विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर ।

विश्व-धर्म की धारणा शायद इस बात से उत्पन्न होती है कि संसार में जितने भी प्रचलित धर्म हैं, उनमें आपस में बहुत सारी बातों में विरोध है। धर्मों का यह परस्परविरोध मानव-समाज में भेद-भाव उत्पन्न करता है तथा अनेक धार्मिक सम्प्रदायों को जन्म देता है, जिनमें आपस में कभी-कभी भीषण द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धर्म इस प्रकार विश्व के मानव-समाज में परस्पर फूट का एक बहुत बड़ा कारण है। अतः, यदि अनेक धर्मों के बदले विश्व में एक ही धर्म हो, तो धर्म के कारण उत्पन्न मतभेदों से संसार मुक्त हो जायगा तथा मानव-समाज विश्व-बंधुत्व के बंधन में बँध जायगा।

इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि विश्व-धर्म की धारणा एक ऐसे धर्म की धारणा है, जो किसी एक दल या सम्प्रदाय का धर्म न होकर समस्त मानव-जाति, समस्त विश्व का धर्म होगा। परन्तु, इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह धर्म, जिसका पालन विश्व के सभी लोग करेंगे, यानी जो समस्त विश्व का धर्म होगा, उसका स्वरूप क्या होगा ? यहाँ पहली कठिनाई तो 'धर्म' शब्द के वास्तविक अर्थ को लेकर ही हो सकती है। अलग-अलग लोगों के मस्तिष्क में 'धर्म' शब्द के अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं और उनके अनुरूप विश्व-धर्म के अलग-अलग स्वरूप हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'धर्म' शब्द के एक खास अर्थ में कोई व्यक्ति साम्यवाद को ही विश्व-धर्म का रूप मान सकता है, कोई भौतिकवाद को ही तथा कोई कुछ विशेष नैतिक नियमों के पालन को ही। परन्तु, यहाँ स्पष्टतः 'धर्म' शब्द का व्यवहार हम उसके सामान्य एवं प्रचलित अर्थ में कर रहे हैं, अर्थात् उस अर्थ में जिस अर्थ में हम हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई

धर्म आदि को धर्म कहते हैं, परन्तु साम्यवाद और भौतिकवाद को नहीं। इस अर्थ में सभी धर्मों में कम-से-कम एक बात सामान्य है और वह है, किसी-न-किसी प्रकार की विश्वातीत सत्ता या स्थिति में विश्वास।

'धर्म' शब्द के सामान्य अर्थ में विश्व-धर्म के कम-से-कम दो वैकल्पिक रूप हमारे समक्ष आते हैं। एक तो, यह हो सकता है कि प्रचलित धर्मों में से ही कोई एक धर्म समस्त विश्व को आच्छादित कर ले तथा विश्व का प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति उसे ही अपने धर्म के रूप में अपना कर उसका पालन करे और दूसरे, यह हो सकता है कि विभिन्न प्रचलित धर्मों के अन्दर जो सार तथा सामान्य बातें हैं, उन्हें एक साथ संकलित कर एक ऐसा नवीन धर्म बनाया जाय, जो किसी खास जाति या सम्प्रदाय का धर्म न होकर समस्त विश्व का धर्म हो और सभी धर्मावलम्बी उसका पालन करें।

जैसा कि हमलोगों ने देखा, विश्व-धर्म के दो वैकल्पिक रूप हमारे समक्ष आते हैं। अब हमारे समक्ष उनकी संभावना का प्रश्न भी उपस्थित होता है। क्या किसी भी उपर्युक्त अर्थ में विश्व-धर्म संभव है? परन्तु, यहाँ इस प्रश्न का उत्तर निर्धारित करने के पूर्व हम यह देखेंगे कि उपर्युक्त दोनों अर्थों में से किसी एक में भी विश्व-धर्म के संभाव्य होने का क्या अर्थ है।

प्रथम अर्थ में विश्व-धर्म के संभव होने का अर्थ है—किसी एक प्रचलित धर्म का समस्त विश्व पर आच्छादित हो जाना। परन्तु, समस्त विश्व पर एक धर्म के छा जाने का क्या अर्थ हो सकता है? इस प्रश्न का सीधे उत्तर देने से पूर्व हम यह देख सकते हैं कि यों तो प्रचलित अर्थ में भी धर्म के मूल तत्त्वों को लेकर कई तरह की बातें कही जा सकती हैं। किन्तु, जिस रूप में साधारण मनुष्य अपने धर्म को लेता है, उस रूप में प्रत्येक धर्म में कम-से-कम तीन बातें आवश्यक होती हैं—(१) कुछ आस्थाएँ, (२) कुछ पौराणिक कथाएँ तथा (३) कुछ शास्त्रपरक विधियाँ एवं नैतिक कार्य-पद्धतियाँ। अब धर्म के सम्बन्ध में इन बातों को ध्यान में रख कर हम यह देख सकते हैं कि किसी भी एक धर्म के समस्त विश्व पर छा जाने का अर्थ होगा, उसी से सम्बद्ध आस्थाओं, पौराणिक कथाओं तथा शास्त्रपरक विधियों आदि का विश्व के समस्त धार्मिक मनुष्यों के द्वारा ग्रहण और पालन किया जाना। उदाहरण के लिए यदि मान लिया जाय कि हिन्दू धर्म विश्व-धर्म हो जाता है, तो फिर उसमें निहित आस्थाएँ, जैसे—आत्मा का अस्तित्व एवं उसकी अमरता, पुनर्जन्म, बंधन-मोक्ष, कर्म-सिद्धान्त आदि सम्बन्धी आस्था में विश्व के प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति की

आस्था होगी तथा उसमें प्रचलित राम, कृष्ण आदि की पौराणिक कथाएँ ही सबों को प्रभावित करेंगी और सभी उन्हें निष्ठापूर्वक सुनेंगे एवं दुहरायेंगे। फिर पूजा-पाठ आदि की भी जो हिन्दू-पद्धति है, उसे ही सभी अपनायेंगे एवं हिन्दू नैतिकता ही विश्व-नैतिकता होगी। यही बात इस्लाम या ईसाई धर्म के विश्व-धर्म हो जाने की संभावना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

दूसरे अर्थ में विश्व-धर्म के संभव होने का अर्थ है—सभी प्रचलित धर्मों से मूल एवं सामान्य बातों को निकाल और एक साथ संकलित कर एक विश्व-धर्म का निर्माण करना। हमने ऊपर देखा है कि साधारण मनुष्य का धर्म कुछ आस्थाओं, पौराणिक कथाओं तथा शास्त्रपरक विधियों—तीनों का सम्मिलित रूप है। इसलिए उपर्युक्त अर्थ में भी विश्व-धर्म के निर्माण में हमें तीनों का ध्यान रखना होगा। अनेक धर्मों से सामान्य बातों को ले कर एक साथ संकलित करने के कार्य को कुछ सामान्य आस्थाओं तथा उच्च नैतिक विधानों तक ही सीमित नहीं रखना होगा, बल्कि उसमें उपर्युक्त तीनों आवश्यक तत्त्वों को सम्मिलित करना होगा। धर्मों की परस्पर एकता सिद्ध करने में हम साधारणतः ऐसा ही करते हैं कि कुछ साधारण आस्थाओं तथा नैतिक विधानों में मेल दिखला देते हैं। जैसे—हम यह बतला देते हैं कि सभी धर्म एक विश्वातीत सत्ता में विश्वास करते है और सभी विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं। परन्तु, उससे यहाँ काम नहीं चलेगा। यहाँ तीनों पहलुओं को कुछ विशदता के साथ शामिल करना होगा। इस दूसरे अर्थ में विश्व-धर्म के संभव होने का यही अर्थ है।

अब हम कुछ दूर तक यह देखें कि उपर्युक्त अर्थों में विश्व-धर्म कहाँ तक संभव है। सभावना तार्किक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की हो सकती है। विश्व-धर्म की तार्किक संभावना है, चूँकि उपर्युक्त दोनों में से किसी भी अर्थ में इसकी धारणा में कोई आत्मविरोध नहीं है। परन्तु, विश्व-धर्म की व्यावहारिक संभावना कहाँ तक है, यह विवेचना का प्रश्न है।

प्रचलित धर्मों में से किसी एक धर्म के विश्व-धर्म हो जाने की व्यावहारिक संभावना इस बात पर निर्भर करती है कि उनमें से किसी एक की आस्थाएँ, पौराणिक कथाएँ तथा शास्त्रपरक विधियाँ समस्त विश्व के लोगों को मान्य हों और उन्हें अपनाना वे सहर्ष स्वीकार करें। परन्तु, ऐसा कब संभव है?

शायद तब जब किसी खास धर्म की आस्थाओं आदि में कुछ ऐसी विशेषता हो कि समस्त विश्व के प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति की धार्मिक भावना की तुष्टि वह सर्वोपरि ढंग से कर सके। परन्तु, क्या ऐसा कोई आधार हमारे पास है, जिसके बल पर हम यह कह सकें कि अमुक धर्म ही विश्व के प्रत्येक मनुष्य को श्रेष्ठतम् धार्मिक संतुष्टि प्रदान करने की क्षमता रखता है और फिर क्या यह व्यावहारिक प्रतीत होता है कि अलग-अलग देश, काल, परिस्थिति, परम्परा आदि में पले व्यक्तियों की धार्मिक भावना को एक ही प्रकार की आस्था, पौराणिक कथा एवं शास्त्रपरक कार्य-पद्धति के द्वारा वास्तविक संतोष प्राप्त हो सके? सचमुच इन प्रश्नों के उत्तर पर ही प्रस्तुत अर्थ में विश्व-धर्म की व्यावहारिक संभावना निर्भर करती है।

यहाँ पर मैं इस बात की ओर संकेत कर देना चाहूँगा कि धर्म-दर्शन के कुछ विचारकों ने कुछ खास-खास प्रचलित धर्मों के रूप में विश्व-धर्म की संभावना साकार होने की कुछ निश्चित आशा व्यक्त की है। उदाहरण के लिए अपनी पुस्तक 'इस्टर्न रेलिजन्स ऐण्ड वेस्टर्न थॉट' में डॉ० राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म के रूप में विश्व-धर्म की व्यावहारिक संभावना की आशा व्यक्त की है तथा जॉर्ज गैलवे अपनी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ रेलिजन' में यह व्यक्त करते हैं कि ईसाई धर्म के अन्दर वे सारे गुण श्रेष्ठतम रूप में मौजूद हैं, जो एक विश्व-धर्म के लिए आवश्यक हैं। डॉ० राधाकृष्णन अपनी आशा के पीछे जो आधार रखते हैं, वह यह है कि हिन्दू धर्म सर्वदा से ही बड़ा विशाल हृदय तथा अद्वैतवादी रहा है एवं दूसरे धर्मों की ओर इसने हमेशा सद्भावना की दृष्टि से देखा है। इसके अनुसार प्रत्येक धर्म एक ही आधारभूत सत्य को अपने-अपने ढंग से अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत करता है तथा सभी धर्मों के ईश्वर अथवा देवी-देवता एक ही मौलिक सत्ता के अलग-अलग रूप हैं। इतिहास भी हिन्दू धर्म की इस विशाल हृदयता को यह बतला कर पुष्ट करता है कि समय-समय पर अनेक धार्मिक सम्प्रदाय के लोग भारत आये और यहाँ बस गये, परन्तु आज एक अलग धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में बहुत कम का ही अस्तित्व है। सभी हिन्दू धर्म की विशालता में विलीन हो गए और जो विलीन नहीं भी हुए, उन पर हिन्दू धर्म का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है।

परन्तु, मेरे विचार से जिन आधारों पर डॉ० राधाकृष्णन हिन्दू धर्म के रूप में विश्व-धर्म की संभावना की आशा रखते हैं, वे बहुत मजबूत और ठोस

नहीं हैं। वास्तव में सभी धर्मों को एक मानना, सभी धर्मों के ईश्वर आदि को एक ही मौलिक सत्ता के विभिन्न रूप मानना आदि हिन्दू धर्म नहीं, हिन्दू धर्म-दर्शन है। इसलिए हिन्दू धर्म विश्व-धर्म इस आधार पर नहीं हो सकता कि वह सभी धर्मों को सद्भावना की दृष्टि से देखता है और सब को एक समझता है। उसका विश्व-धर्म होना तो इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी मौलिक आस्थाएँ, उसकी पौराणिक गाथाएँ (जिनका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं) आदि कहाँ तक ऐसी विशेषताएँ रखती हैं कि विश्व के सभी धार्मिक मनुष्यों के दिल तथा दिमाग को वे संतुष्ट कर सकें और इस तरह प्रश्न वहीं-का-वहीं रह जाता है। ऐतिहासिक उदाहरण भी कुछ सिद्ध नहीं करते। किसी समय कुछ अन्य धर्मों का हिन्दू धर्म में विलीन हो जाना उस खास समय तथा परिस्थिति के प्रभाव का द्योतक हो सकता है। उस समय की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी रही होंगी कि दूसरे धर्म वाले हिन्दू धर्म में मिल गए और आज की परिस्थिति के अनुसार अनेक हिन्दू ईसाई बन रहे हैं। जहाँ तक दूसरे धर्मों पर प्रभाव का संबंध है, हम यह आसानी से देख सकते हैं कि एक साथ पलने वाले धर्म एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि हिन्दू धर्म ने इस्लाम तथा ईसाई धर्मों को प्रभावित किया है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि इन धर्मों के प्रभाव से हिन्दू धर्म अछूता रहा है।

गैलवे अपने उपर्युक्त विश्वास के आधारस्वरूप यह कहते हैं कि वही धर्म विश्व-धर्म कहा जा सकता है, जो किसी जाति या सम्प्रदाय के भेद-भाव से ऊपर उठ कर मनुष्य की अन्तरात्मा को प्रभावित करता हो तथा दुःखों एवं पापों से मुक्ति का जो मार्ग यह बतलाता हो, वह सबके लिए हो, किसी खास जाति या व्यक्ति के लिए नहीं।[१] और फिर उनके अनुसार यद्यपि इस्लाम, बौद्ध तथा ईसाई—ये तीन धर्म इन शर्तों की पूर्ति करते हैं, तथापि सर्वोत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ रूप में ईसाई धर्म ही इन शर्तों की पूर्ति करता है। इसलिए वास्तव में उसी के रूप में हम एक विश्व-धर्म का रूप पा सकते हैं।

परन्तु, यहाँ यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि गैलवे का सारा विचार कुछ पूर्वाग्रहों तथा ईसाई धर्म के प्रति एक पक्षपात की भावना पर आधारित है। आधुनिक विश्व का ऐसा कोई भी धर्म नहीं है, जो अपने-अपने ढंग से मनुष्य की अन्तरात्मा को प्रभावित नहीं करता तथा ऐसा भी नहीं है कि दुःखों

१. जॉर्ज गैलवे, फिलॉसफी ऑफ रेलिजन (टी० ऐण्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा, १९५६ एडिशन), पृ० १३८।

शायद तब जब किसी खास धर्म की आस्थाओं आदि में कुछ ऐसी विशेषता हो कि समस्त विश्व के प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति की धार्मिक भावना की तुष्टि वह सर्वोपरि ढंग से कर सके। परन्तु, क्या ऐसा कोई आधार हमारे पास है, जिसके बल पर हम यह कह सकें कि अमुक धर्म ही विश्व के प्रत्येक मनुष्य को श्रेष्ठतम् धार्मिक संतुष्टि प्रदान करने की क्षमता रखता है और फिर क्या यह व्यावहारिक प्रतीत होता है कि अलग-अलग देश, काल, परिस्थिति, परम्परा आदि में पले व्यक्तियों की धार्मिक भावना को एक ही प्रकार की आस्था, पौराणिक कथा एवं शास्त्रपरक कार्य-पद्धति के द्वारा वास्तविक संतोष प्राप्त हो सके? सचमुच इन प्रश्नों के उत्तर पर ही प्रस्तुत अर्थ में विश्व-धर्म की व्यावहारिक संभावना निर्भर करती है।

यहाँ पर मैं इस बात की ओर संकेत कर देना चाहूँगा कि धर्म-दर्शन के कुछ विचारकों ने कुछ खास-खास प्रचलित धर्मों के रूप में विश्व-धर्म की संभावना साकार होने की कुछ निश्चित आशा व्यक्त की है। उदाहरण के लिए अपनी पुस्तक 'इस्टर्न रेलिजन्स ऐण्ड वेस्टर्न थॉट' में डॉ० राधाकृष्णन ने हिन्दू धर्म के रूप में विश्व-धर्म की व्यावहारिक संभावना की आशा व्यक्त की है तथा जॉर्ज गैलवे अपनी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ रेलिजन' में यह व्यक्त करते हैं कि ईसाई धर्म के अन्दर वे सारे गुण श्रेष्ठतम रूप में मौजूद हैं, जो एक विश्व-धर्म के लिए आवश्यक हैं। डॉ० राधाकृष्णन अपनी आशा के पीछे जो आधार रखते हैं, वह यह है कि हिन्दू धर्म सर्वदा से ही बड़ा विशाल हृदय तथा अहठवादी रहा है एवं दूसरे धर्मों की ओर इसने हमेशा सद्भावना की दृष्टि से देखा है। इसके अनुसार प्रत्येक धर्म एक ही आधारभूत सत्य को अपने-अपने ढंग से अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत करता है तथा सभी धर्मों के ईश्वर अथवा देवी-देवता एक ही मौलिक सत्ता के अलग-अलग रूप हैं। इतिहास भी हिन्दू धर्म की इस विशाल हृदयता को यह बतला कर पुष्ट करता है कि समय-समय पर अनेक धार्मिक सम्प्रदाय के लोग भारत आये और यहाँ बस गये, परन्तु आज एक अलग धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में बहुत कम का ही अस्तित्व है। सभी हिन्दू धर्म की विशालता में विलीन हो गए और जो विलीन नहीं भी हुए, उन पर हिन्दू धर्म का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है।

परन्तु, मेरे विचार से जिन आधारों पर डॉ० राधाकृष्णन हिन्दू धर्म के रूप में विश्व-धर्म की संभावना की आशा रखते हैं, वे बहुत मजबूत और ठोस

नहीं हैं। वास्तव में सभी धर्मों को एक मानना, सभी धर्मों के ईश्वर आदि को एक ही मौलिक सत्ता के विभिन्न रूप मानना आदि हिन्दू धर्म नहीं, हिन्दू धर्म-दर्शन है। इसलिए हिन्दू धर्म विश्व-धर्म इस आधार पर नहीं हो सकता कि वह सभी धर्मों को सद्भावना की दृष्टि से देखता है और सब को एक समझता है। उसका विश्व-धर्म होना तो इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी मौलिक आस्थाएँ, उसकी पौराणिक गाथाएँ (जिनका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं) आदि कहाँ तक ऐसी विशेषताएं रखती हैं कि विश्व के सभी धार्मिक मनुष्यों के दिल तथा दिमाग को वे संतुष्ट कर सकें और इस तरह प्रश्न वहीं-का-वहीं रह जाता है। ऐतिहासिक उदाहरण भी कुछ सिद्ध नहीं करते। किसी समय कुछ अन्य धर्मों का हिन्दू धर्म में विलीन हो जाना उस खास समय तथा परिस्थिति के प्रभाव का द्योतक हो सकता है। उस समय की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी रही होंगी कि दूसरे धर्म वाले हिन्दू धर्म में मिल गए और आज की परिस्थिति के अनुसार अनेक हिन्दू ईसाई बन रहे हैं। जहाँ तक दूसरे धर्मों पर प्रभाव का संबंध है, हम यह आसानी से देख सकते हैं कि एक साथ पलने वाले धर्म एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि हिन्दू धर्म ने इस्लाम तथा ईसाई धर्मों को प्रभावित किया है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि इन धर्मों के प्रभाव से हिन्दू धर्म अछूता रहा है।

गैलवे अपने उपर्युक्त विश्वास के आधारस्वरूप यह कहते हैं कि वही धर्म विश्व-धर्म कहा जा सकता है, जो किसी जाति या सम्प्रदाय के भेद-भाव से ऊपर उठ कर मनुष्य की अन्तरात्मा को प्रभावित करता हो तथा दुःखों एवं पापों से मुक्ति का जो मार्ग यह बतलाता हो, वह सबके लिए हो, किसी खास जाति या व्यक्ति के लिए नहीं।[१] और फिर उनके अनुसार यद्यपि इस्लाम, बौद्ध तथा ईसाई—ये तीन धर्म इन शर्तों की पूर्ति करते हैं, तथापि सर्वोतम तथा सर्वश्रेष्ठ रूप में ईसाई धर्म ही इन शर्तों की पूर्ति करता है। इसलिए वास्तव में उसी के रूप में हम एक विश्व-धर्म का रूप पा सकते हैं।

परन्तु, यहाँ यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि गैलवे का सारा विचार कुछ पूर्वाग्रहों तथा ईसाई धर्म के प्रति एक पक्षपात की भावना पर आधारित है। आधुनिक विश्व का ऐसा कोई भी धर्म नहीं है, जो अपने-अपने ढंग से मनुष्य की अन्तरात्मा को प्रभावित नहीं करता तथा ऐसा भी नहीं है कि दुःखों

---

१. जॉर्ज गैलवे, फिलॉसफी ऑफ रेलिजन (टी० ऐण्ड टी० क्लार्क, एडिनबरा, १९५६ एडिशन), पृ० १३८।

एवं पापों से मुक्ति के लिए जिन नैतिक एवं आध्यात्मिक मार्गों को यह बतलाता है, वह कुछ ही के लिए है, सबों के लिए नहीं। प्रत्येक धर्म अपने-अपने ढंग से जो भी बतलाता है, वह समस्त विश्व के लिए, किसी व्यक्ति या वर्गसमूह के लिए नहीं। यह दूसरी बात है कि कुछ ही लोग उस धर्म के अनुयायी होते हैं और उसका एक निश्चित धार्मिक सम्प्रदाय बन जाता है। परन्तु, यही बात ईसाई धर्म समेत सभी धर्मों के लिए लागू होती है। अन्य धर्मों के ऊपर ईसाई धर्म की महत्ता सिद्ध करने के लिए और भी बहुत तरह की बातें गैलवे कहते हैं, परन्तु वे सब एक पक्षपातपूर्ण विचार को पुष्ट करने के लिए बातों को तोड़-मरोड़ कर रखने के एक ढंग के अलावा और कुछ नहीं है। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं कि बौद्ध धर्म विश्व से भागना सिखलाता है, परन्तु ईसाई धर्म विश्व में ही ईश्वर के साम्राज्य की बात कहता है तथा लोगों को विश्व से नहीं, बल्कि पाप से भागने की सलाह देता है। परन्तु, सच तो यह है कि बौद्ध धर्म भी विश्व से नहीं, बल्कि विषय-वासना से बचने की सलाह देता है तथा इसी जीवन में मुक्ति की संभावना भी मानता है। सचमुच जिन आधारों को गैलवे ईसाई धर्म के पक्ष में पेश करते हैं, वे कोई ऐसे विशिष्ट आधार नहीं हैं, जिनके आधार पर अन्य धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म में विश्व-धर्म की व्यावहारिक समावना कहीं अधिक सिद्ध होती है।

प्रचलित धर्मों से मूल बातों को निकाल एवं संकलित कर एक विश्व-धर्म निर्मित किए जाने की व्यावहारिक संभावना इस बात पर निर्भर करती है कि इन धर्मों में बहुत-सी बातों में मेल हो तथा ये मेल की बातें महत्त्वपूर्ण हों। धर्मों में परस्पर बहुत-सी बातों में मेल है, इस ओर अनेक विद्वानों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। डॉ० भगवानदास का नाम इस प्रसंग में उद्धरणीय है। परन्तु, इन मेल की बातों के आधार पर एक विश्व-धम का निर्माण कहाँ तक संभव है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है कि क्या प्रचलित धर्मों की पौराणिक गाथाओं एवं शास्त्रपरक विधियों में कुछ खास सामान्य बातें हैं, जिन्हें एक साथ संकलित कर विश्व-धर्म की पौराणिक गाथाएँ तथा शास्त्रपरक विधियाँ निर्धारित की जाएँ। क्या राम-कृष्ण-सम्बन्धी गाथा, मोजेज और जहवेह-सम्बन्धी गाथा तथा ईसामसीह-सम्बन्धी गाथा में कुछ भी सामान्य बातें हैं और क्या हिन्दू शास्त्रपरक कार्य-पद्धति एवं अन्य धर्मों की ऐसी कार्यपद्धतियों में कोई ठोस मेल है ? फिर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर इस

प्रश्न के उत्तर पर भी निर्भर करता है कि क्या प्रचलित धर्मों की मूल आस्थाओं में कुछ ऐसी मेल की बातें हैं, जिन्हें एक साथ एकत्रित कर हम विश्व-धर्म की सामान्य आस्थाओं को निर्धारित कर सकें ? कोई धर्म एक ईश्वर में विश्वास करता है, कोई दो में, कोई अनेक देवी-देवताओं में और कोई ईश्वर को मानता ही नहीं। इनमें क्या सामान्य है, जिसे अपना कर भेद वाली बातों को छोड़ दिया जाए ? फिर कुछ धर्म ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण और कुछ निराकार मानते हैं। किसी में कर्म-सिद्धान्त मूल बात है, किसी में उसका नामोनिशान नहीं है। किसी में जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति है, तो किसी में आत्मपूर्णता और किसी में ईश्वर से सान्निध्य। इनमें क्या सामान्य है ? ये बातें कुछ वैसी भी नहीं हैं, जिन्हें महत्त्वहीन समझ कर बिलकुल छोड़ दिया जाय। वस्तुतः ये ही तो धार्मिक आस्थाओं की रीढ़ हैं। इसलिए उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर आवश्यक हैं और सबसे मौलिक प्रश्न तो यह है कि क्या धार्मिक आस्थाएँ इस प्रकार से निर्धारित करने की वस्तुएँ हैं ? मेरी समझ में वे तो आन्तरिक भावना की चीजें हैं और उन्हें ऊपर से लादा नहीं जा सकता। फिर भी इन प्रश्नों को भी मैं विद्वानों के विचारार्थ ही छोड़ देता हूँ। ये प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, चूँकि उन्हीं के उत्तर पर इस प्रश्न का उत्तर निर्भर करता है कि सभी धर्मों की सामान्य मूल बातों को संकलित कर एक विश्व-धर्म के निर्माण की संभावना कहाँ तक है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि विश्व-धर्म की सारी धारणा ही व्यावहारिक दृष्टि से एक खोखली तथा भ्रामक धारणा है। धर्मों के परस्पर भेद को बिलकुल दूर करने का सारा विचार ही मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। हाँ, उन्हें न्यूनतम करने की दिशा में प्रयत्न किए जा सकते हैं तथा इस दिशा में तुलनात्मक धर्म-दर्शन के प्रयास बहुत हद तक सार्थक एवं उपादेय हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि यदि विश्व-धर्म के नाम पर एक नवीन धर्म का निर्माण हुआ भी, तो वह भी अनेक धर्मों के बीच एक और धर्म बन कर ही रह जायगा। प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने अपने धर्म का प्रचार इस भावना से ही किया कि अपने अनुभूत सत्य को वह समस्त विश्व के लोगों तक पहुँचाये। इस भावना से नहीं कि वह अपना एक अलग सम्प्रदाय कायम करे। परन्तु, यह एक विरोधाभास ही है कि जितनी बार ऐसे प्रयत्न किए गए, उतनी ही बार धर्म का एक नवीन सम्प्रदाय हमारे समक्ष आ गया।

● ●

८. धर्म और प्रतीक

डॉ० अवधेश्वर 'अरुण'
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

धर्म के सन्दर्भ में प्रतीक पर विचार करने के पूर्व धर्म और प्रतीक दोनों को पारिभाषित कर लेना आवश्यक है। इन दोनों ही विषयों पर पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि से प्रचुर विचार हुआ है। यदि विस्तार से इनकी चर्चा की जाय, तो यह 'हरि अनन्त, हरिकथा अनन्ता' की तरह हो जाय। अतः, मैं विस्तार में न जाकर सूत्ररूप में ही विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा करूँगा।

पाश्चात्य दृष्टि से धर्म की व्याख्या अनेक रूपों में मिलती है। जॉर्ज गैलवे की दृष्टि में, 'Religion is mam's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy his emotional needs and gains stability in life and which he expresses in acts of worship and service" इस परिभाषा में मनुष्य से परे किसी महाशक्ति में आस्था को धर्म कहा गया है, जिसकी अभिव्यक्ति उपासना और सेवा के माध्यम से होती है और मनुष्य इसकी आवश्यकता जीवन में स्थिरता पाने तथा भावात्मक आवश्यकताओं को तुष्ट करने के लिए अनुभव करता है। युंग ने भी धर्म को मनुष्य की अन्तःप्रेरित भावना और आस्था की अभिव्यक्ति माना है। किन्तु, रैंक की दृष्टि में धर्म निर्भरता से उत्पन्न भावना है— "Religion has its origin in the feeling of dependence." फ्रॉयड ने इसी निर्भरता को पिता-पुत्र सम्बन्ध के सन्दर्भ में आगे बढ़ाते हुए बताया है कि पुत्र आरम्भ में पिता पर निर्भर रहता है और बड़ा हो जाने पर पिता

के स्थान पर परमपिता की कामना आ जाती है और इस तरह धर्म, जो ईश्वर में विश्वास और निर्भरता का दूसरा नाम है, पिता-पुत्र सम्बन्ध का प्रतीकमात्र सिद्ध होता है।

दृष्टि-भेद चाहे जो हो, किन्तु पश्चिमी धर्म-चिंतन का सारांश यह है कि धर्म एक स्वतःप्रेरित भावना है, जिसका आधार अपने से भिन्न और बड़ी शक्ति या सत्ता के प्रति आस्था है। इस धर्म का व्यावहारिक पक्ष आचार और विचार के रूप में प्रकट होता है। इसी को पूजा-उपासना और दूसरों के प्रति की गई सेवा और सहानुभूति कहते हैं।

भारतीय दृष्टि से धर्म की व्याख्या अत्यन्त व्यापक रूप में की गई है। यहाँ कर्म को भी धर्म कहा गया है, लोक-व्यवहार को भी धर्म में ही परिगणित किया गया है और परलोक-चिन्तन तथा ईश्वर एवं मानव के बीच की सम्बन्ध-भावना तो धर्म है ही। आपस्तम्ब के धर्मसूत्र में बताया गया है कि समय और रीति, जो सज्जनों को स्वीकार हो, वही धर्म है। इस परिभाषा का अभिप्राय यह है कि समय विशेष में समाज के सज्जन, विवेकशील और मान्य जन जिन विधि-विधानों को स्वीकार कर चलें, वही धर्म है और शेष लोगों के लिए मान्य भी। गीता में धर्म को कर्म का ही पर्याय समझा गया है। जब भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

> सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
> अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिस्यामि मा शुचः ॥

या

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥

तो उनका अभिप्राय संसार की कर्म-व्यवस्था ही परिलक्षित होता है। मेरी दृष्टि में धर्म को सर्वांग, सुन्दर और ठोस परिभाषा वैशेषिक दर्शन की है। वहाँ कहा गया है—'यतो अभ्युदयानिःश्रेयस् सिद्धि ततो धर्मः।' अर्थात् जिससे निःश्रेयस् और अभ्युदय की सिद्धि हो, वह धर्म है। अभ्युदय से अभिप्राय आत्मोन्नति से ले कर लोकगत समस्त भौतिक सुख-समृद्धि-सिद्धि की प्राप्ति है तथा निःश्रेयस् का तात्पर्य परलोक और अध्यात्म जगत के समस्त चिन्तन और उपलब्धि से है। सूत्ररूप में कहें, तो इस परिभाषा में व्यक्ति-चेतना और समाज-चेतना दोनों की सम्यक् प्रतिष्ठा हुई है। भारतीय धर्मशास्त्रों

में इस अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए आचरण की पवित्रता, उदात्तता, ईश्वरानुरक्ति और धर्मशास्त्रों द्वारा बनाए गए विधि-निषेधों का पालन आवश्यक माना गया है।

इस तरह धर्म-विवेचन में पाश्चात्य दृष्टि जहाँ आस्था और अन्तःकरण की भावना से आगे नहीं जाती है, वहाँ भारतीय दृष्टि अपनी व्यापकता में समस्त भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को समेट लेती है।

मेरी दृष्टि में धर्म मानव-मन की वह संस्कारबद्धता है, जो परिस्थितियों के संघात से विकसित होता है और तर्क तथा विश्वास की आँखमिचौनी में अपनी स्थिरता का जड़ारोपण मानव-जीवन तथा समाज में करता है। यह एक साथ वैयक्तिक और सामाजिक दोनों है। वैयक्तिक जीवन में धर्म आस्था का विषय है, सामाजिक जीवन में अनुशासन का।

धर्म की ही भाँति प्रतीक के विषय में भी भारतीय और पाश्चात्य मनीषा में पर्याप्त विवेचन मिलता है। भारतीय दृष्टि में प्रतीक से अभिप्राय अवयव, मुख, दर्शन, अंग रूप आदि से है। ऋग्वेद में अवयव के अर्थ में इसका प्रयोग करते हुए कहा गया है—वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीक मध्येधे अग्निः। इसका भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है—"तथाग्निः पृथु विस्तीर्ण प्रतीकं पृथिव्या अवयवं।" इसी तरह मुख के अर्थ में प्रतीक का प्रयोग बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है—"यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्निमत्ति प्रतीकेन।" अर्थात् जो अन्न के अक्षय भाव को जानता है, वह मुख रूप प्रतीक के द्वारा इसका भक्षण करता है। भारवि के शिशुपाल-वध में इसका प्रयोग अंग-प्रत्यंग के अर्थ में हुआ है—कीर्णारेजे साजिभूमिः समन्ताद प्राणंगि प्राणभाजां प्रतीकैः।" अर्थात् वह रणस्थली मृत प्राणियों के अंग-प्रत्यंगों से भरी हुई थी। इन कुछ उदाहरणों से प्रतीक-प्रयोग की सत्ता तो सिद्ध हो जाती है, किन्तु ऊपर प्रतीक के जितने अर्थ दिए गए हैं, वे एक सीमा तक स्थूल ही हैं। इसकी तुलना में पश्चिमी विद्वानों ने प्रतीक को अधिक सूक्ष्म रूप में ग्रहण किया है और उसकी अर्थगत अमित संभावनाओं की ओर संकेत किया है। 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन ऐण्ड इथिक्स' में प्रतीक की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि केवल मानस प्रत्यक्ष तथा कल्पना में आने वाले विचारों, भावों और अनुभूतियों के गोचर संकेत अथवा चिह्न प्रतीक हैं।

A symbol is a visible or audible sign or emblem of some thought, emotion or experience interpreting what can be realy grasped only by the mind and imagination by something which enters in the field of observation.

मनोवैज्ञानिक रैक और सैक्स के अनुसार, "प्रतीक दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति का पूर्ण साधन है, जो अज्ञात मन की भावनाओं को छद्मवेश और ज्ञात मन की नवीन विषयवस्तु के साथ सामंजस्य करने की विशेष योग्यता के कारण सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है।

युंग के अनुसार वे सभी मानसिक क्रिया-प्रणालियाँ प्रतीक हैं, जिनके सम्बन्ध में यह मान्य है कि ये वर्तमान ज्ञान से परे उससे कुछ भिन्न, किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ की व्यंजना करते हैं।

दार्शनिक ह्वाइटहेड ने सम्पूर्ण सृष्टि को प्रतीकमय माना है। सूसन के० लैंजर के अनुसार, "Symbols are not proxi for their objects but are the vehicles for the conception of objects........It is the conception not the things that symbols directly mean." लैंजर की परिभाषा में प्रतीक धारणा का विषय है, वस्तु का सूचक नहीं। अर्थात् प्रतीक की सत्ता उसकी अर्थव्यंजकता में है, वस्तुरूपता में नहीं।

डॉ० राधाकृष्णन की दृष्टि में यथार्थ प्रतीक कोई स्वप्न या छाया नहीं है। वह अनन्त का जीवित साक्षात्कार है। हम प्रतीकों को विश्वास के द्वारा स्वीकार करते हैं, जो अनेक व्यक्तियों के लिए परम सत्य के साक्षात्कार करने का माध्यम है।

ऊपर जिन परिभाषाओं की चर्चा की गई है, उनको देखने से स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम में प्रतीक-सम्बन्धी विवेचन में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य दृष्टि से वह अमूर्त्त भावों का मूर्त्त रूप है, तो मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में अवदमित भावों, इच्छाओं को अभिव्यक्त करने वाली अज्ञात मन की भाषा। दार्शनिकों की दृष्टि में वह धारणा का बोधक है, वस्तु का सूचक नहीं। इन मतान्तरों के बीच प्रतीक के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि "प्रतीक मानव के सामूहिक या वैयक्तिक मन की अवदमित या अनवदमित इच्छाओं, भावनाओं और विचारों को अभिव्यक्त करने वाला ऐसा माध्यम है, जिसकी स्थूल सत्ता में सूक्ष्म और अमूर्त अर्थ के अनेक स्तर व्यंग्य--

व्यंजक भाव से निहित रहते हैं और साहचर्य, संस्कार तथा देश-काल की समानता के द्वारा अर्थ-बोध कराते हैं।"

धर्म और प्रतीकविषयक इस सैद्धान्तिक विवेचन के उपरान्त अब हम धर्म के क्षेत्र में प्रतीक की सत्ता और उसके प्रयोग पर विचार करेंगे। धर्म का व्यावहारिक पक्ष धार्मिक कृत्यों यथा पूजा, उपासना, ध्यान और पीड़ितों की सेवा में व्यक्त होता है तथा सैद्धान्तिक पक्ष धर्मविषयक चिन्तन, जिज्ञासा और ईश्वर के प्रति अनुरक्ति की भावना के निरूपण में। इन दोनों ही दृष्टियों से धर्म में प्रतीकों के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव होती है। धर्म के क्षेत्र में ईश्वर की सत्ता का गोचर और इन्द्रियग्राह्य रूप मूर्ति या उसके सूचक चिह्नों के माध्यम से व्यक्त होता है। इसलिए वहाँ प्रतीक अनायास जा पहुँचता है। दूसरी ओर चिन्तन के क्षेत्र में उस अनन्त, अगोचर को व्यक्त करने का जब प्रश्न उठता है, तो अभिव्यक्ति की सामान्य शब्दावली और पद्धति असमर्थ हो जाती है और हम प्रतीकों की भाषा का प्रयोग उसकी अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्यत: करने लगते हैं। हिन्दू धर्म-चिन्तन में ओंकार, वृक्ष, पक्षी आदि प्रतीकों के द्वारा संसार के स्वरूप और ईश्वर की सत्ता को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है।

धर्म के क्षेत्र में प्रतीक के अस्तित्व पर विचार करते हुए कारलाइल कहते हैं—"प्रतीक का महत्त्व सदैव धार्मिक होता है। वास्तविक प्रतीक में सदैव स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से असीम का रहस्योद्घाटन होता है। इसमें निराकार का साकार में संयोजन होता है।" हॉफडिंग के मत में—"धार्मिक विचार मनुष्य के जीवन के संघर्ष में मनोभावों, आकांक्षाओं और इच्छाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।" एक अन्य विद्वान की दृष्टि में, "धर्म मन की प्रतीकात्मक प्रक्रिया की उपज है।" सेबेटियर का कथन है कि धार्मिक ज्ञान की विभिन्न विशेषताओं में से एक यह भी है कि वह प्रतीकात्मक होता है। लोकमान्य तिलक ने प्रतीक की व्याख्या में लिखा है—"प्रतीक (प्रति + इक) प्रति = अपनी ओर; इक = झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं। इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न, अंशरूपी विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है।" तिलकजी के इस निरूपण से भी स्पष्ट है कि धार्मिक जगत में प्रतीक का अस्तित्व अनिवार्य है।

इन सारे प्रमाणों से सिद्ध होता है कि धर्मविषयक अनुभूतियों या विचारों की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम प्रतीक है।

धार्मिक प्रतीकों का उद्‌भव मूलतः ईश्वर को बोधगम्य बनाने की अनिवार्य आवश्यकता से सम्बद्ध है। असीम और अमूर्त्त तब तक हमारे बोध, आस्था या विवेचन का विषय नहीं बन पाता, जब तक वह असीम और मूर्त्त न हो। यही मूर्त्तिकरण की प्रक्रिया अवतारवाद, प्रतिमा, संकेत या चिह्न के द्वारा निष्पन्न होती है और ये सारे तत्त्व प्रतीक के ही विभिन्न रूपान्तर हैं।

धर्म और प्रतीक के इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतीकों का प्रयोग धर्म के क्षेत्र में होता है और ऐसे प्रतीकों को 'धार्मिक प्रतीक' कहा जाता है। इन धार्मिक प्रतीकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: (१) धार्मिक उपादान और (२) धार्मिक कृत्य। धार्मिक उपादान के अन्तर्गत ईश्वर के अवतार, ईश्वर के अंश से उत्पन्न मानव, प्रतिमा, चिह्न आदि आते हैं। इस दृष्टि से ईसाइयों का क्रॉस, हिन्दुओं का त्रिशूल, सभी अवतार, छाप, तिलक, मुद्रा तथा शिव के त्रिशूल, डमरू, सरस्वती के हंस, पुस्तक, वीणा, विष्णु के शंख, चक्र, गदा, पद्‌म आदि उपादान प्रतीक माने जायेंगे।

धार्मिक कृत्य प्रतीक वे हैं, जिनको विभिन्न जातियाँ कार्य के रूप में सम्पादित करती हैं। जैसे—नमाज पढ़ना, संध्या-पूजन करना, चर्च जाना, अगियारी में अग्नि-पूजा, पशु-पूजा, बलि आदि। इन्हें धार्मिक कृत्य प्रतीक कहेंगे।

मूर्तिपूजकों का विश्वास है कि दैवी सत्य प्रतीक में निहित रहता है तथा पहेली और आख्यायिकाओं में प्रच्छन्न रहता है। यह मूर्तिपूजा अनेक जातियों में पशुपूजा के रूप में भी प्रचलित है। उदाहरणार्थ भारत में दीपावली के बाद गोधन-पूजा ऐसा ही धार्मिक प्रतीक है। इस तरह पूजा चाहे मूर्ति की हो या पशु की, वह प्रतीकात्मक होती है। मूर्तिपूजा जैसे प्रतीकों की एक और विशेषता यह है कि ये प्रतीक उन लोगों की आस्था को स्थूल आधार देते हैं, जो अज्ञानी या दुर्बल चिन्तन शक्ति-सम्पन्न होने के कारण गहन चिन्तन और ज्ञान-साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने में असमर्थ रहते हैं। वूडवर्ड के शब्दों में, "मूर्ति का यथार्थ महत्त्व प्रतीकात्मक होता है। इसका प्रभाव विशेषतः ऐसे व्यक्तियों की चेतना पर पड़ता है, जिन्होंने मानसिक प्रतिमाओं का प्रयोग करना नहीं सीखा है।"

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सभी धर्मों में मिलती है; क्योंकि ईश्वर की धारणा किसी-न-किसी रूप में सभी धर्मों में प्रचलित है और उसकी उपासना सभी धर्मावलम्बी किसी-न-किसी रूप में अवश्य करते हैं। ये धार्मिक कृत्य और पूजन-अर्चन उनकी आस्था के परिचायक होते हैं। इस आधार पर धार्मिक क्षेत्र में प्रतीक की सत्ता अपरिहार्य सिद्ध होती है।

किन्तु, इसी के साथ यह भी ध्यातव्य है कि धार्मिक प्रतीकों का आन्तरिक अर्थ इस बात पर आधारित होता है कि वह किस सीमा तक अव्यक्त की विराटता को व्यक्त कर पाता है। साथ ही, उन प्रतीकों की आत्मा तक पहुँच कर उनके अर्थ का सही उद्‌घाटन करने के लिए आवश्यक है कि हम उनके सन्दर्भ और उनकी व्यंजकता को पकड़ें। इनके बिना धार्मिक प्रतीकों का समुचित अर्थ-ज्ञान संभव नहीं है। धार्मिक प्रतीकों का अर्थ जानने के लिए धर्मविशेष के मर्म का ज्ञान भी अपेक्षित है। उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म में देवताओं की प्रतिमा के पूजन की परम्परा है और जैन धर्म में भी मूर्तिपूजन का विधान है। किन्तु, दोनों के अर्थ में अन्तर है। हिन्दू धर्म में देवताओं की प्रतिमाएँ ईश्वरपूजा की प्रतीक हैं। इसलिए यदि हम यह मान लें कि जैन धर्म में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी जैन धर्म में ईश्वर की पूजा का रूप हैं, तो यह गलत होगा; क्योंकि वहाँ मूर्तिपूजा ईश्वरपूजा नहीं, आदर्श की प्राप्ति के लक्ष्य का सूचक है। जैन धर्म में ईश्वर की सत्ता मान्य ही नहीं है।

धार्मिक प्रतीकों की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। धर्म और दर्शन के प्रतीक किसी-न-किसी रूप में ईश्वर अथवा किसी अनन्त विराट सत्ता की ओर अवश्य संकेत करते हैं। धार्मिक प्रतीकों का आधारतत्त्व है—आस्था। बिना आस्था के धार्मिक प्रतीकों का न तो अर्थ-ज्ञान संभव है और न प्रभाव-सत्ता। धर्म के प्रतीक की एक बाँह आस्था के कन्धे पर और दूसरी बाँह दर्शन के कंधे पर होती है। इसीलिए धार्मिक प्रतीक कलात्मक मूल्य की अपेक्षा चिन्तनप्रधान हो उठते हैं।

चूँकि मानव-जीवन में अब तक धर्म का अखण्ड साम्राज्य रहा है और आज भी वह विज्ञान द्वारा सर्वथा विस्थापित नहीं हुआ है, इसलिए अन्य क्षेत्रों में धार्मिक प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। काव्य के क्षेत्र में धार्मिक

इन सारे प्रमाणों से सिद्ध होता है कि धर्मविषयक अनुभूतियों या विचारों की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम प्रतीक है।

धार्मिक प्रतीकों का उद्भव मूलतः ईश्वर को बोधगम्य बनाने की अनिवार्य आवश्यकता से सम्बद्ध है। असीम और अमूर्त तब तक हमारे बोध, आस्था या विवेचन का विषय नहीं बन पाता, जब तक वह असीम और मूर्त्त न हो। यही मूर्त्तिकरण की प्रक्रिया अवतारवाद, प्रतिमा, संकेत या चिह्न के द्वारा निष्पन्न होती है और ये सारे तत्त्व प्रतीक के ही विभिन्न रूपान्तर हैं।

धर्म और प्रतीक के इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतीकों का प्रयोग धर्म के क्षेत्र में होता है और ऐसे प्रतीकों को 'धार्मिक प्रतीक' कहा जाता है। इन धार्मिक प्रतीकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है: (१) धार्मिक उपादान और (२) धार्मिक कृत्य। धार्मिक उपादान के अन्तर्गत ईश्वर के अवतार, ईश्वर के अंश से उत्पन्न मानव, प्रतिमा, चिह्न आदि आते हैं। इस दृष्टि से ईसाइयों का क्रॉस, हिन्दुओं का त्रिशूल, सभी अवतार, छाप, तिलक, मुद्रा तथा शिव के त्रिशूल, डमरू, सरस्वती के हंस, पुस्तक, वीणा, विष्णु के शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि उपादान प्रतीक माने जायेंगे।

धार्मिक कृत्य प्रतीक वे हैं, जिनको विभिन्न जातियाँ कार्य के रूप में सम्पादित करती हैं। जैसे—नमाज पढ़ना, संध्या-पूजन करना, चर्च जाना, अगियारी में अग्नि-पूजा, पशु-पूजा, बलि आदि। इन्हें धार्मिक कृत्य प्रतीक कहेंगे।

मूर्तिपूजकों का विश्वास है कि दैवी सत्य प्रतीक में निहित रहता है तथा पहेली और आख्यायिकाओं में प्रच्छन्न रहता है। यह मूर्तिपूजा अनेक जातियों में पशुपूजा के रूप में भी प्रचलित है। उदाहरणार्थ भारत में दीपावली के बाद गोधन-पूजा ऐसा ही धार्मिक प्रतीक है। इस तरह पूजा चाहे मूर्ति की हो या पशु की, वह प्रतीकात्मक होती है। मूर्तिपूजा जैसे प्रतीकों की एक और विशेषता यह है कि ये प्रतीक उन लोगों की आस्था को स्थूल आधार देते हैं, जो अज्ञानी या दुर्बल चिन्तन शक्ति-सम्पन्न होने के कारण गहन चिन्तन और ज्ञान-साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने में असमर्थ रहते हैं। वुडवर्ड के शब्दों में, "मूर्ति का यथार्थ महत्त्व प्रतीकात्मक होता है। इसका प्रभाव विशेषतः ऐसे व्यक्तियों की चेतना पर पड़ता है, जिन्होंने मानसिक प्रतिमाओं का प्रयोग करना नहीं सीखा है।"

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सभी धर्मों में मिलती है; क्योंकि ईश्वर की धारणा किसी-न-किसी रूप में सभी धर्मों में प्रचलित है और उसकी उपासना सभी धर्मावलम्बी किसी-न-किसी रूप में अवश्य करते हैं। ये धार्मिक कृत्य और पूजन-अर्चन उनकी आस्था के परिचायक होते हैं। इस आधार पर धार्मिक क्षेत्र में प्रतीक की सत्ता अपरिहार्य सिद्ध होती है।

किन्तु, इसी के साथ यह भी ध्यातव्य है कि धार्मिक प्रतीकों का आन्तरिक अर्थ इस बात पर आधारित होता है कि वह किस सीमा तक अव्यक्त की विराटता को व्यक्त कर पाता है। साथ ही, उन प्रतीकों की आत्मा तक पहुँच कर उनके अर्थ का सही उद्घाटन करने के लिए आवश्यक है कि हम उनके सन्दर्भ और उनकी व्यंजकता को पकड़ें। इनके विना धार्मिक प्रतीकों का समुचित अर्थ-ज्ञान संभव नहीं है। धार्मिक प्रतीकों का अर्थ जानने के लिए धर्मविशेष के मर्म का ज्ञान भी अपेक्षित है। उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म में देवताओं की प्रतिमा के पूजन की परम्परा है और जैन धर्म में भी मूर्तिपूजन का विधान है। किन्तु, दोनों के अर्थ में अन्तर है। हिन्दू धर्म में देवताओं की प्रतिमाएँ ईश्वरपूजा की प्रतीक हैं। इसलिए यदि हम यह मान लें कि जैन धर्म में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ भी जैन धर्म में ईश्वर की पूजा का रूप हैं, तो यह गलत होगा; क्योंकि वहाँ मूर्तिपूजा ईश्वरपूजा नहीं, आदर्श की प्राप्ति के लक्ष्य का सूचक है। जैन धर्म में ईश्वर की सत्ता मान्य ही नहीं है।

धार्मिक प्रतीकों की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। धर्म और दर्शन के प्रतीक किसी-न-किसी रूप में ईश्वर अथवा किसी अनन्त विराट सत्ता की ओर अवश्य संकेत करते हैं। धार्मिक प्रतीकों का आधारतत्त्व है—आस्था। विना आस्था के धार्मिक प्रतीकों का न तो अर्थ-ज्ञान संभव है और न प्रभाव-सत्ता। धर्म के प्रतीक की एक वाँह आस्था के कन्धे पर और दूसरी वाँह दर्शन के कंधे पर होती है। इसीलिए धार्मिक प्रतीक कलात्मक मूल्य की अपेक्षा चिन्तनप्रधान हो उठते हैं।

चूँकि मानव-जीवन में अब तक धर्म का अखण्ड साम्राज्य रहा है और आज भी वह विज्ञान द्वारा सर्वथा विस्थापित नहीं हुआ है, इसलिए अन्य क्षेत्रों में धार्मिक प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। काव्य के क्षेत्र में धार्मिक

प्रतीक सर्वाधिक प्रयुक्त हुए हैं। इसके द्वारा काव्य में उस तत्त्व की वृद्धि हुई है, जिसे दिव्यता की भावना कहते हैं।

प्रत्येक धर्म में प्रतीकों का विकास अपने ढंग से हुआ है, इसलिए धार्मिक प्रतीक प्रत्येक धर्म की निजी सम्पदा है। किन्तु, कुछ ऐसे भी प्रतीक हैं, जो धर्म के क्षेत्र में देशकाल की सीमा का अतिक्रमण कर सार्वभौम बन गए हैं। किन्तु, इनकी सत्ता विरल ही समझनी चाहिए।

६. हिन्दू धर्म का तात्त्विक स्वरूप

प्रो० उपेन्द्रनारायण झा
स्नातकोत्तर दर्शन-विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।

परिभाषा नहीं, एक अति सरल और संक्षिप्त वर्णन के तौर पर मैं कह सकता हूँ कि हिन्दू धर्म-कर्म पुनर्जन्म, संसार, ईश्वर, ब्रह्म तथा मोक्ष नामक पूर्वस्वीकारोक्तियों पर आधारित धार्मिक विश्वासों का एक संगठन है, जो भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थितियों में सहिष्णुता तथा भ्रातृत्व से अपनी गत्यात्मकता का परिचय देते हुए अभी तक एक जीवित धर्म के रूप में है और एक आध्यात्मिक धर्म के रूप में भविष्य में भी जीवित रहेगा। समसामयिक काल तक पूर्वोक्त मौलिक धारणाओं का बहुमुखी प्रणयन हो चुका है, लेकिन मैं यहाँ इन धारणाओं के पदों में हिन्दू धर्म के स्वरूप का केवल एक दार्शनिक रेखाचित्र प्रस्तुत कर रहा हूँ, कोई क्रमबद्ध पूर्ण ऐतिहासिक लेखा नहीं।

कर्म का अर्थ है कि प्रत्येक क्रिया किसी कारण का परिणाम है और उस क्रिया का फिर कोई परिणाम होता है। इस प्रक्रिया में कृतकर्मों का परिणाम व्यक्ति को इस जीवन में या अन्य जीवन में भोगना पड़ता है। यद्यपि कर्म के अर्थ में परिवर्तन मिलते हैं, लेकिन 'अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतकर्म शुभाशुभम्' का मंतव्य प्राचीन काल से लेकर अभी तक संरक्षित और स्वीकृत है। संहिता-काल में कर्म की धारणा को ऋत नियम में प्रविष्ठित पाते हैं। ऋत के नियम से ग्रह, नक्षत्र और प्राकृतिक वस्तुओं की गतियाँ नियंत्रित हैं। मानव-जगत में इस नियम को नैतिक नियम के नाम से जानते हैं। ब्राह्मण-काल में कर्म का तकनीकी अर्थ है—याज्ञिक क्रिया। स्वर्गप्राप्ति अथवा इहलौकिक अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए देवताओं की अनुकम्पा प्राप्त करने का एकमात्र साधन याज्ञिक

कर्म है। लोगों का यह विश्वास था कि जिस उद्देश्य से याज्ञिक कर्म किया जाता है, वह परिणाम उपस्थित होकर रहेगा।[1] ब्राह्मणवाद से लेकर स्मृति-काल तक शास्त्रविहित वर्णोचित विशेष कर्त्तव्य नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मों की चर्चा है, लेकिन कर्म के सम्बन्ध में यह बात मुख्य रूप से मानी गई है कि कर्मफल का भोग व्यक्ति को करना पड़ता है।

गीता में वैदिक कर्मों की भी चर्चा है, लेकिन निष्काम कर्म की धारणा कर्म-विवेचना के संदर्भ में विशेष प्रमुख हो जाती हैं। साधारणतः हमारे सब कर्मों के पीछे इहलोक अथवा परलोक से सम्बन्धित कोई-न-कोई इच्छा रहती है। इच्छा कर्म की प्रेरक शक्ति है—यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। कर्म फल के लिए होता है—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा समस्त जीवन कर्म की शृंखला है। कर्म तो बंधन में डालता है और बिना कर्म किये हुए हम रह नहीं सकते। समस्त प्रकृति कर्ममय है। प्रकृतिजात प्रवृत्तियों के चलते इच्छा या अनिच्छा से हमें कर्म करना ही पड़ता है।[2] इस कष्टमय स्थिति से बचने के लिए गीता निष्काम कर्म का उपदेश देती है। फल की इच्छा को त्यागते हुए, कर्म करना निष्काम कर्म है। कर्मफल के प्रति अनासक्ति, विराग और उदासीनता का भाव रखकर कर्म करना निष्काम कर्म है। कर्म का संन्यास नहीं, बल्कि कर्म फल का संन्यास लेना है। मनोवैज्ञानिक सत्य के निर्वाह के लिए अगर कर्म के पीछे ईश्वर-प्राप्ति अथवा लोक-कल्याण जैसा प्रयोजन स्वीकार किया जाय, तो ऐसे प्रयोजनों के लिए किया गया कर्म बंधनकारी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य का अधिकार कर्म करना है। कर्मफल तो होगा अवश्य, लेकिन वह इच्छा के अनुकूल होगा या प्रतिकूल—यह मनुष्य के अधिकार की बात नहीं है। मनोनुकूल कर्मफल की उत्पत्ति में पूर्व कर्मों एव वातावरण के अन्य घटकों का हस्तक्षेप हो सकता है। अस्तु, निराशा और कष्ट की स्थिति आ सकती है। इसलिए सफलता और विफलता, अनुकूलता और प्रतिकूलता का ख्याल न कर समभाव से कर्म सम्पादित करने का उपदेश दिया गया है।[3] फल की

1. Zaehner, Hinduism, Oxford University Press, London, p. 77.
2. Radhakrishnan, S. The Bhagvadgita III 5.
3. Ibid., Chap II 48. p. 120.

आशा से काम करने वाले लोगों को गीता में कृपण की संज्ञा दी गई है,[1] वे दया के पात्र हैं। फल की ओर से अनासक्त हो कर, अपने को निमित्त-मात्र समझते हुए और ईश्वरार्पण भाव से किया गया कर्म वंधन में नहीं डालता। ऐसी बात नहीं है कि कर्मयोगी अगर अनैतिक कार्य करता है, तो भी वंधन में नहीं पड़ता, वल्कि कर्मयोग की अवस्था में गलत काम हो ही नहीं सकता। गीता के अनुसार कर्म सकाम हो या निष्काम, कर्मफल का निर्धारण और वितरण पुरुषोत्तम के हाथ है, पुरुषोत्तम कर्माध्यक्ष है। निर्गुणवादी योजना में कर्म निर्वैयक्तिक नियम है और शुभ-अशुभ कर्मो के अनुसार फल होता है। केवल शास्त्रीय हिन्दू विचार में ही नहीं, वल्कि समसामयिक विचार में भी कर्मफल की उत्पत्ति और भुगतान को आवश्यक कहा जाता है।

किस प्रकार फल की उत्पत्ति होती है, उस प्रक्रिया की व्याख्या हिन्दू विचार में नहीं मिलती। कर्मफल की आवश्यक उत्पत्ति और भुगतान में हमारे विश्वास का कारण क्या है? कर्म-सिद्धान्त के प्रारम्भिक रूप की चर्चा के सिलसिले में एस० एन० दासगुप्ता ने एक परिकल्पना की है। वैदिक काल में मंत्र के मायिक प्रभाव में लोगों का विश्वास था। उनका विश्वास था कि याज्ञिक कर्म में शुद्ध-शुद्ध उच्चारित मंत्रों का प्रभाव शीघ्र या बाद अवश्य उपस्थित होता है।[2] इसी समयोक्तिक अनुमान पर यह विश्वास किया जाता होगा कि कर्म का फल भी अवश्य उत्पन्न होता है। मेरे विचार से यह परिकल्पना यथार्थ स्थिति से विपरीत है। यथार्थ स्थिति से विपरीत इसलिए कि कर्म-सिद्धान्त वैदिक देन नहीं है। कर्म-सिद्धान्त प्राक्-वैदिक हिन्दू धर्म का भी एक मुख्य स्तंभ है। यहाँ मोक्ष धार्मिक जीवन का आदर्श है, जहाँ कि वैदिक धर्म में स्वर्गप्राप्ति को आदर्श माना माता है। वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड पर जोर दिया जाता है और प्राक्-वैदिक धर्म में समाधि और साधना पर। शास्त्रीय वैदिक हिन्दू कर्म और संसार के सिद्धान्त से अनभिज्ञ थे।[3] समाधिमूलक धर्म में समाधि द्वारा चरम साध्य को

1. Ibid., Chap. II 49.
2. Dasgupta, S. N. A History of Indian Philosophy, Cambridge University Press, p. 72.
3. Masih, Y. 'Pre-vedic and Non-aryan Elements of Historical Hinduism' *Magadhi* No. 2 (1971) University Department, Magadh University, Gaya ....

प्राप्य बताया जाता है। समाधि द्वारा कर्मफल को समाप्त किया जा सकता है। यही नहीं, लुइस रीनो ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुइज्म' में हिन्दू धर्म के लक्षण को स्पष्ट करते हुए हिन्दू धर्म को संन्यास प्रधान कर्म कहा है। इनके अनुसार संन्यास मौलिक हिन्दू विचार का Crest है।[1] अब हम कह सकते हैं कि संन्यास अकर्मण्यता नहीं, बल्कि गहन मानसिक क्रियाशीलता द्वारा संसार की कष्टमय स्थिति से मुक्त होने का प्रयास है। इस प्रकार कर्म की उपादेयता में विश्वास वैदिक कर्म विचार से प्राचीनतर माना जा सकता है, तो फिर यह परिकल्पना कि मंत्र के प्रभाव के अनुमान पर कर्म के प्रभाव में लोगों का विश्वास जमा होगा—इसे हम यथार्थ स्थिति के विपरीत मान सकते हैं। यह भले ही कल्पना की जा सकती है कि मंत्र के प्रभाव में लोगों का विश्वास प्राचीनतर हिन्दू विचार के कर्मफल प्रभाव से प्रभावित रहा होगा। मैं सोचता हूँ, साधारण अनुभव ही कर्मफल के प्रभाव में विश्वास उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। साधारण जीवन के बहुत से स्थलों पर आनुभविक उदाहरणों से बहुत हद तक यह पुष्ट किया जा सकता है कि कर्म का कुछ परिणाम होता है।

डॉ० राधाकृष्णन ने कर्म-सिद्धान्त को कुछ परम्परागत आपत्तियों से बचाया है। नियंत्रणवादी आपत्ति इस प्रकार है कि जब सब कुछ कर्मनियंत्रित है, हमारा जीवन और इसकी सारी क्रियाएँ पूर्वकर्मानुसार हैं, तो फिर जीवन को उच्चतर बनाने के लिए धर्म, पूजा, उपासना आदि निरर्थक हैं। प्रतिरक्षा में डॉ० राधाकृष्णन का सुझाव है कि कर्म-सिद्धान्त का मतलब यह है कि विश्व नियमबद्ध है। कर्म-सिद्धान्त यह बतलाता है कि सुकर्म का फल शुभ और दुष्कर्म का फल पाप या अशुभ होगा। परन्तु, सुकर्म द्वारा अशुभ कर्मों के फल का क्षय हो सकता है। पापों की क्षमा हो सकती है। डॉ० राधाकृष्णन का कथन देखें :

"We can insist with unflicting rigour on the inexorability of the moral law and yet believe in the forgiveness of sins."[2]

....See also, Dandekar, R. N. Some Aspects of the History of Hinduism (University of Poona, 1967), pp. 55-98.

1. Lowis, R. Hinduism (George Braziller, New York, 1962) p. 19.
2. Radnakrishnan, S. The Hindu View of Life (George Allen & Unwin), p. 74.

अगर पाप के क्षय को माना जाय, तो मानव-प्रयास की सार्थकता कबूल की जा सकती है। अगर हमारा जीवन सुकर्म में बीत रहा है, तो इसका मतलब है कि हमारे लक्ष्य की दूरी कम हो रही है। हमारा प्रत्येक क्षय चरित्र-निर्माण और भाग्य-निर्माण का क्षण है।[1]

पाप की अदलाबदली नहीं होती, हमारा दोष दूसरे के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। हम कर्मफल से मिली हुई सामग्री का आध्यात्मिक ज्ञान की रोशनी में सदुपयोग कर अपने जीवन और समाज में परिवर्तन ला सकते हैं।[2] सुकर्मियों के लिए उच्चतर जीवन का द्वार सर्वदा खुला है। यह बात नहीं कि पापी सदा के लिए अधोगति में रहेगा। सुबह का भूला अगर शाम तक लौट आए, तो वह भूला नहीं कहलाता। इस प्रकार नियंत्रणवाद, भाग्यवाद और निराशावाद के आतंकों से हिन्दू धर्म को प्रतिरक्षित किया गया है। इन 'वादों' को कर्म-सिद्धान्त का आवश्यक परिणाम नहीं माना जा सकता।

लेकिन, हिन्दू विचार में कर्मफल की उत्पत्ति और भुगतान की बात आवश्यकता (Necessity) के पद में की जाती है। न काल कर्म के जीवन को विद्रूप कर सकता है और न मृत्यु उसे मिटा सकती हैं। इस जीवनकाल में अगर कर्मफल का भुगतान न हो पाया, तो किसी जन्म में भुगतान आवश्यक रूप से करना है। कर्मों को आनुभविक घटनाओं के रूप में लेते हुए हम इतना कह सकते हैं कि एक घटना दूसरे से सम्बन्धित है, लेकिन कारण को आवश्यक (Necessary) नहीं कहा जा सकता है। आनुभविक घटनाओं में तार्किक आवश्यकता का गुण मढ़ना भाषा का असंगत प्रयोग है—कर्मफल की उत्पत्ति अगर भुगतान के लिए पुनर्जन्म की धारणा की सहायता ली जाती है। लेकिन, इसका मतलब साफ है कि वास्तविक स्तर पर समस्या का निदान न मिलने के कारण समस्या को आनुभविक स्तर से बाहर टाला जा रहा है। खैर, हमलोग अब पुनर्जन्म पर विचार करें।

पुनर्जन्म :

वैदिक विचार के अनुसार शुभ-अशुभ फल के उपभोग के लिए क्रमशः उच्च या निम्न योनियों में आत्मा का अवतरण हो सकता है। उपनिषदों में पुनर्जन्म को लेकर तीन मंतव्य मिलते हैं। छांदोग्य उपनिषद् में यह जिक्र है कि

1. Ibid., p. 72.
2. Ibid., pp. 75-76.

धार्मिक और सामाजिक शुभ कर्मों को करने वाले व्यक्तियों की आत्मा मृत्यु के बाद धूम्र और अंधकार को पार करती हुई पितृयान में शुभ फलों का भोग कर पुनः इस संसार में नवीन जीवन प्रारम्भ करती है। दूसरे मंतव्य के अनुसार तपस्वी और महान व्यक्तियों की आत्माएँ प्रकाश के मार्ग से देवयोनि में जाकर ब्रह्म में मिल जाती हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। तीसरा मंतव्य, जो बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है, यह बताता है कि आत्मा किसी योनि में फलभोग नहीं करती, बल्कि शुभ फलों के कारण ब्रह्मत्व को प्राप्त कर सकती है। अगर उसे कर्म करने की इच्छा होती है, तो वह संसार में पुनर्जन्म लेती है। मुण्डक (तथा बृहदारण्यक में भी) में एक और बात मिलती है कि पुनर्जन्म के मूल में 'काम' (Desire) है, कर्म तो इच्छा और उसके परिणाम के बीच की कड़ी है। बात जो हो, लेकिन इतना माना जाता है कि मृत्यु के समय आत्मा भौतिक तत्त्व, इन्द्रिय शक्ति तथा अन्य शक्ति को सूक्ष्म रूप से संग्रहीत कर पूर्व कर्म, ज्ञान और अनुभव के सम्मिलित संस्कार को सूक्ष्म शरीर द्वारा वहन करती हुई आवश्यकतानुसार नवीन शरीर का निर्माण कर नवीन जीवन में कर्मफल का भोग करती है।[1]

आत्मा के सम्बन्ध में यह मानना कि यह मनोदैहिक सारी प्रवृत्तियों को सूक्ष्म रूप से संग्रहीत करती है और नवीन शरीर निर्माण की क्षमता से युक्त है, केवल कोरा विश्वास है। जब आत्मा इतना कर सकती है, तो क्यों नहीं एक जीवनकाल में कर्मफल का पूरा भुगतान कर लेती है? सूक्ष्म शरीर और आत्मा की सत्ता मान लेने पर भी इतना स्पष्ट है कि दूसरे जीवन में भौतिक तत्त्व, मानसिक शक्ति और मनोदैहिक अन्य गुणों का संघटन एक नया संघटन है, वहाँ का वातावरण नया है। मृत्यु के पूर्व के संघटन और वातावरण तथा मृत्यु के उपरान्त के संघटन और वातावरण को एक नहीं माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, वैयक्तिक संरक्षणता को स्थापित नहीं किया जा सकता। विटगेन्स्टाइन ने बहुत ठीक कहा है कि मृत्यु की स्थिति में मृत व्यक्ति के लिए संसार परिवर्तित नहीं हो जाता, बल्कि समाप्त हो जाता है।[2] वैयक्तिक अर्थ में

1. Dasgupta, S. N. A History of Indian Philosophy, (Cambridge University Press), Vol. I, pp. 55-56.
2. Masih, Y. Religions Philosophy, Chapter I, On Immortality (Motilal Banarsidas).

अमरत्व में विश्वास करना केवल एक अनोखी प्रत्याशा है।[1] ऐसी कोई आनुभाविक स्थिति का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता, जहाँ उस प्रत्याशा या विश्वास को सत्यापित या मिथ्यापित किया जा सके। वैयक्तिक संरक्षणता की प्रतिरक्षा अनुभव या तर्क पर जब नहीं हो सकती है, तब कर्मफल की आवश्यक उत्पत्ति और एक ही व्यक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न जन्मों में उसे भुगतान की बात न्यायसंगत नहीं मानी जा सकती है।

संसार :

फिर भी, हिन्दू धर्म में यह विश्वास किया जाता है कि जीवन का चक्र चल रहा है। पूर्व कर्मों के कारण वर्तमान जीवन प्रारम्भ होता है और वर्तमान जीवन के संचित और संचीयमान कर्मों के फल का भोग करने के लिए भावी जीवन प्रारम्भ होता है। जन्म-मरण का यह सिलसिला मोक्षपर्यन्त जारी रहता है। इस प्रकार नैतिक विश्व में जन्म-मृत्यु की प्रक्रिया चल रही है और भौतिक विश्व में भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया। विश्व के दोनों पक्षों के पीछे कर्म-सिद्धान्त काम कर रहा है। वस्तु की समष्टि कारण-कार्य की प्रक्रिया में है। इस प्रक्रिया या परिवर्तन को 'संसार' कहते हैं। हिन्दू विचार में संसार अस्थायी, परिवर्तनीय और अपूर्ण प्रक्रिया है। यह संसार किसी शिल्पी स्रष्टा द्वारा साँचे में ढाल एक ही बार निर्मित नहीं किया गया है। यह सदा चलने वाली प्रक्रिया है। यों तो सृष्टिकर्त्तव्य के गुण का आरोप वरुण, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, विश्वकर्मण आदि वैदिक देवताओं पर किया गया है, लेकिन एक और केवल एक स्रष्टा की स्थापना वेद और उपनिषद् तक न हो पाई और न पाश्चात्य ईश्वरवादी विचार की तरह शून्य से सृष्टि बतायी गई है। ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ, जिसे स्रष्टा कहा गया है, उसी को पुनः सृष्टि-प्रक्रिया से उत्पन्न भी कह दिया जाता है।[2] फिर ऋग्वेद के सृष्टि-संगीत से भी निरपेक्ष रूप से सृष्टिकर्त्ता को स्थापित नहीं किया जा सकता। सृष्टि-संगीत में कहा गया है कि प्रारम्भ में सत् या असत् कुछ नहीं कहा जा सकता है। अगर तपस से सृष्टि का प्रारम्भ कहा जा सकता है, तो साथ ही काम (Desire) की प्राथमिकता भी सृष्टि में अस्वीकृत नहीं की जा सकती है। शायद सृष्टि के

1. Ibid.

2. Zaehner, R. C. Hinduism, p. 53.

वारे में निश्चित कोई नहीं जानता है।[1] पुरुष की प्रार्थना[2] में विराट पुरुष की कल्पना है, जिसके विभिन्न अंगों से वर्णों की उत्पत्ति वताई जाती है, परन्तु स्वयं पुरुष यज्ञ से उत्पन्न है। इस पुरुष की कल्पना से सृष्टि की समस्या पर उतना प्रकाश नहीं पड़ता, जितना ईश्वर की विश्वातीवता पर।

विश्व-प्रक्रिया का पौराणिक चित्र यह है कि ब्रह्मा का दिन विश्व-प्रक्रिया या संसार के विकास की अवस्था है और ब्रह्मा की रात ह्रास की। विलयन होने पर भी संसार वीज रूप में ब्रह्मा के अन्दर वर्तमान रहता है। इसलिए संसार को अनादि और अन्तहीन कह सकते हैं। प्रत्येक रूप में आत्मा कर्मफल को भोगती और संचित करती जाती है। अव सहज ही कल्पना की जा सकती है कि कितने लम्बे समय तक आत्मा को जीवन-मृत्यु के चक्र में रहना है। इस अन्तहीन अस्थायी संसार में मनुष्य इच्छा, द्वेष, क्रोध, लोभ और मोह-भंवर में संघर्ष कर रहा है। जिसे हम सुखद समझते हैं, वह वास्तव में दुःखद है। मैत्रेयी उपनिषद् तथा महाभारत में दृष्टान्त द्वारा संसार के अति भयानक और दुःखान्त चित्र प्रस्तुत किये गए हैं।[3] ये चित्र अतिरंजित हैं, फिर भी हिन्दू विचार में सांसारिक स्थिति को त्रिविध तापों का क्रीड़ास्थल माना गया है। संसार वंधन की स्थिति है, अज्ञान या अविद्या की स्थिति है।

अविद्या :

साधारणतः अविद्या का अर्थ है—विद्या या ज्ञान का अभाव। लेकिन, इसे 'माया' भी कहा जाता है। माया वेद में देवता और दानव की चमत्कारिक या ऐन्द्रजालिक शक्ति थी, किन्तु ईश्वरवादी विचार में वह ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति है और कभी-कभी सांख्य की प्रकृति के अर्थ में भी ली जाती है। पर, वह ईश्वर के अधीन है। शंकर के अनुसार माया या अविद्या के कारण शुद्ध चेतन ब्रह्म केवल हमारी दृष्टि से ओझल ही नहीं रहता, वल्कि ब्रह्म विकृत रूप में अर्थात् नानात्व (या संसार) के रूप में प्रतीत होता है। अविद्या को हम एक दृष्टिकोण कह सकते हैं, जो स्वाभाविक ढंग से हमारे चिंतन, क्रिया और भावनाओं को इस ढंग से प्रभावित किए हुए है कि हम संसार को सत्य मानते रहते हैं। परमार्थिक ज्ञान की प्राप्ति से हमारा यह दृष्टिकोण वदल जाता है।

---

1. Macdonell, A. A. Hymns of the Rigveda.
2. Ibid., p. 19.
3. Zaehner, A. C. Opcit, pp. 83-87.

मुक्ति में हमारा दृष्टिकोण ऐसा हो जाता है कि सारी चीजों में एकात्मज्ञाता झलकती है। अविद्या का नाश ज्ञान से होता है।

इसलिए हिन्दू विचार में ज्ञान मुक्ति की कुंजी है। ज्ञान की प्राप्ति सच्ची भक्ति, निष्काम कर्म या निदिध्यासन से हो सकती है। ज्ञानप्राप्ति के लिए कहीं-कहीं तपस्या की भी बात आ जाती है। हठयोग और आत्मप्रपीड़न तपस्या का आत्यन्तिक रूप हैं। इसीलिए कुछ आलोचकों ने हिन्दू धर्म पर कठोरता का अभियोग लगाया है। बात यह है कि आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने के लिए आन्तरिक शुद्धता आवश्यक है और तपस्या आंतरिक शुद्धता प्राप्त करने में मदद करती है। फिर भी यहाँ तपस्या बहुत प्रिय विधि नहीं मानी गई है। जिन मुख्य सम्प्रदायों से हिन्दू धार्मिक विश्वास गुजरा है, उनमें तपस्या की प्रधानता न रही है।

ईश्वर और ब्रह्म का धार्मिक विश्वास :

स्मार्त, शैव, वैष्णव और शाक्त—इन चार मुख्य सम्प्रदायों में हिन्दू धर्म प्रचलित मिलता है।[1] स्मार्त लोगों का व्यवहार कर्मकाण्डी और विश्वास बहु-देवतावादी है। शाक्तों का विश्वास देवियों में है। तांत्रिक विधियाँ और बलि-दान का प्रचलन यहाँ मुख्य बातें हैं। शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदाय वैदिक तथा उपनिषदिक ईश्वरवादी विचार के विकसित रूप हैं। वेद में बिखरी हुई ईश्वरवादी प्रवृत्तियाँ उपनिषदों में, विशेषत: श्वेताश्वर उपनिषद् के रुद्र-शिव की धारणा में, आ कर एक व्यवस्थित और स्पष्ट रूप ले लेती हैं। यहाँ का रुद्र-शिव ऋग्वेद या अथर्ववेद के रूप या पशुपति की तरह भयोत्पादक नहीं, बल्कि वह स्रष्टा, पालक, रक्षक एवं विश्व-शासक के रूप में एकमात्र ईश्वर है। विश्वातीत होकर भी शिव का सम्बन्ध आत्मा के साथ अत्यन्त घनिष्ठ है। इसी प्रकार ऋग्वैदिक विष्णु, जो ऋग्वेद में सर्वव्यापक शक्तिसम्पन्न और भयोत्पादक है[2] वह पुराण और महाभारत तक एकमात्र करुणामय, परन्तु सर्वोच्च ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित है। महाकाव्य काल के शिव और विष्णु

1. Eliot, Sir Charles, Hinduism and Buddhism (Routedge & Kegan Paul) Vol. I p. xxxiv.
2. Radhakrishnan, S. Ed. Source Book of Indian Philosophy, p. 8.

के बीच के वर्तमान द्वन्द्व को हटाने का प्रयास त्रिमूर्ति और हरिहर की धारणाओं से किया गया है, लेकिन इस द्वन्द्व का परिहार नहीं हो पाया है। शिव से भी विष्णु का जीवों के साथ सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ है। विश्वातीतता, अन्तर्व्याप्तता और प्रेम के साथ परशुराम, रामकृष्ण आदि रूपों में कालान्तर से अवतरित हो कर धर्मस्थापना और उसकी प्रतिरक्षा विष्णु के विशेष लक्षण हैं।

पुराण, गीता, वैष्णव तथा शैव धर्मग्रन्थों में विकसित ईश्वरवादी विचार के फलस्वरूप छठी शताब्दी से दक्षिण भारत में जो भक्ति की प्रवल धारा उठी, वह कालक्रम से समस्त भारत में फैल कर विशाल जनसमुदाय के हृदय को आज भी आन्दोलित करती है। भक्ति-आन्दोलन इतना प्रिय और दीर्घकालीन सिद्ध हुआ है कि हिन्दू धर्म को लोग ईश्वरवादी और भक्तिपरक मान सकते हैं।

ईश्वरवादी विचार का सारांश यह है कि आत्मसमर्पण या निरहैतुक भक्ति से ईश्वरप्राप्ति हो सकती है। आत्मा और ईश्वर के वीच मधुर सम्वन्ध है। ईश्वर निर्गुण ब्रह्म से भी श्रेष्ठ है। ईश्वर अपने भक्तों का विनाश नहीं होने देता। ईश्वर में अगर आस्था दृढ़ हो, तो मोक्ष अवश्य मिलेगा।[1]

हिन्दू विचार केवल ईश्वरवादी ही नहीं, वल्कि एकवादी या सर्वेश्वरवादी भी है। "एकम् सत् विप्राः वहुधा वदन्ति" का 'एकम् सत्' वैयक्तिक नहीं, वल्कि निर्वैयक्तिक सत्ता है। उपनिषद् में यह 'एकम् सत्' 'आत्मन' कहा गया है, जो जीव का ही नहीं, वल्कि वाह्य विश्व का भी मूल तत्त्व है। आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य, जो उपनिषदों की मुख्य शिक्षा है, शंकर विचार में तर्क पर विकसित किया गया है। शंकर के अनुसार सत् त्रिकाल अवाधित शुद्ध चेतना है। साधारण अवस्था में हमारी चेतना वस्तुओं से सीमित या वाधित रहती है।

जाग्रतावस्था में तो चेतना वस्तुओं से सीमित है ही, निद्रावस्था में स्मृति और स्वप्न के प्रत्यय इसे वाधित करते हैं। शुद्ध चेतना की झाँकी हमें स्वप्नरहित निद्रावस्था में मिलती है, लेकिन निद्रा के वाद पुनः चेतना वस्तुओं से घिर जाती है। स्वप्नरहित निद्रा की अवस्था में भी आत्मा कर्म और अज्ञान

1. The Bhagvadgita, Chapter xviii 66.

की शक्ति से स्वतन्त्र नहीं है। तुरीयावस्था चेतना की शुद्ध और मुक्त अवस्था है। यहाँ चेतना वस्तु अथवा किसी प्रत्यय से बाधित नहीं है। जिस प्रकार जाग्रतावस्था में स्वप्न के अनुभव की असत्यता का पता चलता है, उसी प्रकार तुरीयावस्था में जाग्रतावस्था की असत्यता स्पष्ट होती है। जब तक तुरीयावस्था की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक संसार सत्य है।

तुरीयावस्था मोक्ष की स्थिति है। यह ज्ञाता और ज्ञान के विभेद तथा परिवर्तनों के प्रभाव से परे एकमात्र चेतन सत् है। चेतना एक इस अर्थ में है कि जाग्रतावस्था की जो चेतना है, वही निद्रावस्था में भी रहती है। निद्रा में चेतना का नाश नहीं हो जाता और वही चेतना स्वप्नरहित निद्रा और तुरीयावस्था में वर्तमान रहती है। चेतना के विषय बदलते हैं, लेकिन चेतना एक रहती है,[1] इसलिए चेतना एक सत् है। यह स्वयंप्रभा है। स्वप्नरहित निद्रा की स्मृति में अबाधित चेतना के शान्त और आनन्दमय स्वरूप का पूर्वाभास मिलता है। इस प्रकार ब्रह्म वर्णनात्मक तौर पर सत्, चित् और आनन्दस्वरूप कहा जाता है, लेकिन वस्तुतः यह निर्गुण अपरिवर्तनीय अधिष्ठान मात्र है। इस शुद्ध सत्, चित्, आनन्दस्वरूप अधिष्ठान की स्थिति या ज्ञान मोक्ष है।

मोक्ष :

मोक्ष की स्थिति में कर्म एवं पुनर्जन्म का चक्र समाप्त हो जाता है, संसार की दुःखद स्थिति का अन्त हो जाता है, आत्मा अपने सुध, बुध और चिरन्तन स्वरूप को पहचान लेती है, इसलिए मोक्ष हिन्दू धर्म में परम पुरुषार्थ माना गया है। भक्ति, कर्म और ज्ञान में से किसी मार्ग का अवलम्बन कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वरवादी विचारक भक्ति और प्रपत्ति पर बल देते हैं और निर्गुणवादी ज्ञान पर। मार्ग जो भी हो, लेकिन मोक्ष की स्थिति में आत्मा का प्रकृति और उससे उत्पन्न तत्वों के साथ जो मिथ्या तादात्म्य रहता है, वह तादात्म्य मिट जाता है।

मोक्ष की अवस्था में आत्मा की स्थिति को लेकर एकमत नहीं है। महाभारत के अनुसार जीव ब्रह्मतत्त्व प्राप्त कर पुनः विष्णु के शरीर में प्रवेश कर जाता है, जीव का भौतिक पक्ष किसी प्रकार सुरक्षित रहता या नहीं, इसका स्पष्टीकरण नहीं मिलता। गीता भी निरपेक्ष रूप से समस्या का समाधान

1. The Pancadasi Vol. 6. p. 3. (Sri Ramkrishna Math, Mylapur, Madras-4).

नहीं करती है। गीता के अनुसार पितृ में श्रद्धा रखने वाले पितृलोक, देवता की पूजा करने वाले देवलोक और ईश्वर की पूजा करने वाले ईश्वर के पास जाते हैं।[१] योगी मुक्ति की अवस्था में ब्रह्म के सम्पर्क में आत्यन्तिक सुख का अनुभव करता है।[२] फिर यह भी उल्लेख है कि ईश्वर के स्वरूप को जानने वाला उसके समीप आ जाता है[३] मुक्ति की अवस्था में मनुष्य ईश्वर की स्थिति प्राप्त करता है[४] और पाँचवें अध्याय के २५वें श्लोक में गीता जीव की संरक्षणता की बात करती है। वस्तुस्थिति जो हो, ईश्वरवादियों के अनुसार जीव मोक्ष की अवस्था में ईश्वर के समीप प्रेम और ज्ञान की अनुभूति करता है तथा निर्गुणवादियों की भाषा में, जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाता है।

हिन्दू विचार में जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों की चर्चा है। शरीर प्रारब्ध कर्म का फल है और यह तब तक कायम रहेगा, जब तक प्रारब्ध कर्म का भुगतान न हो जाय। इस जीवन में मोक्ष प्राप्त करने वाले व्यक्ति का कर्म अनासक्त और लोकोपकारी होने के कारण बंधन में नहीं डालता। मृत्यु के बाद फिर मोक्ष प्राप्त किया हुआ व्यक्ति पुनर्जन्म के चक्र में नहीं फँसता; क्योंकि ज्ञान या मोक्ष प्राप्त हो जाने पर संचित और संचीयमान कर्मों की शक्ति समाप्त हो जाती है। अब न संसार का कष्ट है, न मृत्यु का भय— 'अभयम्, अजरम्, अमृत्युपदम।' मोक्ष को 'अप्राप्तस्य प्राप्ति' कहें किंवा 'प्राप्तस्य प्राप्ति' लेकिन यह प्रशस्त मनोवृत्ति, विशाल दृष्टि या समदृष्टि की अवस्था है। यहाँ सारी चीजें ईश्वरमय या आत्ममय हो जाती हैं। यह आत्मपूर्णता की अवस्था है। अस्तित्ववादियों के शब्दों में यही है अस्तित्व की गहन आन्तरिक अवस्था, जिस पर दुःख-शोक, नैराश्य और मृत्यु नामक असत् की छाया नहीं पड़ती है। यही एकात्म जीवन की अनुभूति हिन्दू धर्म का आध्यात्मिक लक्ष्य और संदेश है। इसी संदेश पर हिन्दू धर्म जीवित रहेगा।

वर्णाश्रम की हिन्दू सामाजिक योजना में दम नहीं रह गया है। जिन आदर्शों की प्राप्ति के लिए योजना का नियमन और प्रयोग हुआ था, उन आदर्शों की प्राप्ति के बजाय हमारा समाज कट्टरता एवं पारस्परिक ईर्ष्या की

---

1. The Bhagvadgita ix 25.
2. Ibid , vi 28
3. Ibid., iv 9.
4. Ibid , iv 10.

आग में अभी भी झुलस रहा है। वेद और ईश्वर में अटूट विश्वास का समय लद चुका है। हालाँकि भारतीय ईश्वरवाद पर मनोविश्लेषणात्मक आघात उतना प्रभावकारी नहीं है, जितना पाश्चात्य ईश्वरवाद पर। भारतीय ईश्वरवाद न तो टोटम धर्म से विकसित हुआ है और न ईश्वर शैशवकालीन पितृ-प्रतिमा। लेकिन, अगर वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के इस वर्तमान युग में मानव तथा ईश्वर के बीच सम्पर्क की क्षीणता के कारण पाश्चात्य ईश्वरवाद का ईश्वर मृत हो रहा है, तो भारत में भी ईश्वरवाद का ईश्वर जीर्ण हो रहा है। मंदिरों में स्थापित और कोठरी की ताखों पर रखी हुई प्रतिमाओं पर धूल जम रही है। प्रतीकों का इतिहास बता रहा है कि हम इन प्रतीकों को आज या कल अवश्य छोड़ेंगे। लेकिन, आत्मपूर्णता के धर्म के रूप में हिन्दू धर्म जीवित रहेगा। आत्मपूर्णता और शान्ति का संदेश हमने विश्व को अतीत में भी दिया है, भविष्य में भी देंगे।

● ●

नहीं करती है । गीता के अनुसार पितृ में श्रद्धा रखने वाले पितृलोक, देवता की पूजा करने वाले देवलोक और ईश्वर की पूजा करने वाले ईश्वर के पास जाते हैं ।[१] योगी मुक्ति की अवस्था में ब्रह्म के सम्पर्क में आत्यन्तिक सुख का अनुभव करता है ।[२] फिर यह भी उल्लेख है कि ईश्वर के स्वरूप को जानने वाला उसके समीप आ जाता है[३] मुक्ति की अवस्था में मनुष्य ईश्वर की स्थिति प्राप्त करता है[४] और पाँचवें अध्याय के २५वें श्लोक में गीता जीव की संरक्षणता की बात करती है । वस्तुस्थिति जो हो, ईश्वरवादियों के अनुसार जीव मोक्ष की अवस्था में ईश्वर के समीप प्रेम और ज्ञान की अनुभूति करता है तथा निर्गुणवादियों की भाषा में, जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाता है ।

हिन्दू विचार में जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों की चर्चा है । शरीर प्रारब्ध कर्म का फल है और यह तब तक कायम रहेगा, जब तक प्रारब्ध कर्म का भुगतान न हो जाय । इस जीवन में मोक्ष प्राप्त करने वाले व्यक्ति का कर्म अनासक्त और लोकोपकारी होने के कारण बंधन में नहीं डालता । मृत्यु के बाद फिर मोक्ष प्राप्त किया हुआ व्यक्ति पुनर्जन्म के चक्र में नहीं फँसता; क्योंकि ज्ञान या मोक्ष प्राप्त हो जाने पर संचित और संचीयमान कर्मों की शक्ति समाप्त हो जाती है । अब न संसार का कष्ट है, न मृत्यु का भय— 'अभयम्, अणरम्, अमृत्युपद्म ।' मोक्ष को 'अप्राप्तस्य प्राप्ति' कहें किंवा 'प्राप्तस्य प्राप्ति' लेकिन यह प्रशस्त मनोवृत्ति, विशाल दृष्टि या समदृष्टि की अवस्था है । यहाँ सारी चीजें ईश्वरमय या आत्ममय हो जाती हैं । यह आत्मपूर्णता की अवस्था है । अस्तित्ववादियों के शब्दों में यही है अस्तित्व की गहन आन्तरिक अवस्था, जिस पर दुःख-शोक, नैराश्य और मृत्यु नामक असत् की छाया नहीं पड़ती है । यही एकात्म जीवन की अनुभूति हिन्दू धर्म का आध्यात्मिक लक्ष्य और संदेश है । इसी संदेश पर हिन्दू धर्म जीवित रहेगा ।

वर्णाश्रम की हिन्दू सामाजिक योजना में दम नहीं रह गया है । जिन आदर्शों की प्राप्ति के लिए योजना का नियमन और प्रयोग हुआ था, उन आदर्शों की प्राप्ति के बजाय हमारा समाज कट्टरता एवं पारस्परिक ईर्ष्या की

---

1. The Bhagvadgita ix 25.
2. Ibid , vi 28
3. Ibid., iv 9.
4. Ibid , iv 10.

आग में अभी भी झुलस रहा है। वेद और ईश्वर में अटूट विश्वास का समय लद चुका है। हालाँकि भारतीय ईश्वरवाद पर मनोविश्लेपणात्मक आघात उतना प्रभावकारी नहीं है, जितना पाश्चात्य ईश्वरवाद पर। भारतीय ईश्वर-वाद न तो टोटम धर्म से विकसित हुआ है और न ईश्वर शैशवकालीन पितृ-प्रतिमा। लेकिन, अगर वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के इस वर्तमान युग में मानव तथा ईश्वर के बीच सम्पर्क की क्षीणता के कारण पाश्चात्य ईश्वर-वाद का ईश्वर मृत हो रहा है, तो भारत में भी ईश्वरवाद का ईश्वर जीर्ण हो रहा है। मंदिरों में स्थापित और कोठरी की ताखों पर रखी हुई प्रतिमाओं पर धूल जम रही है। प्रतीकों का इतिहास बता रहा है कि हम इन प्रतीकों को आज या कल अवश्य छोड़ेंगे। लेकिन, आत्मपूर्णता के धर्म के रूप में हिन्दू धर्म जीवित रहेगा। आत्मपूर्णता और शान्ति का संदेश हमने विश्व को अतीत में भी दिया है, भविष्य में भी देंगे।

● ●

१०. धर्म का भविष्य

संजीवन प्रसाद
प्राध्यापक, दर्शन-विभाग,
किसान कॉलेज, सोहसराय, पटना ।

इस निबंध का उद्देश्य धर्म का भावी परिप्रेक्ष्य स्पष्ट करना है । प्राय: यह अवधारणा बन गई है कि धर्म मृतप्राय है, मृतप्राय की अवस्था में है तथा इसकी वही स्थिति अवशेष रह गई है, जो स्थिति पानी के बुलबुले की है । परन्तु, हमारे मन्तव्य में धर्म के प्रति यह अन्यमनस्कता एक अभिनत अभिवृत्ति का द्योतक है । इस अभिवृत्ति का कारण विज्ञान का त्वरित प्रगमन है । परन्तु, क्या विज्ञान का यह त्वरित प्रगमन मानव के लिए हितकारी सिद्ध हुआ है ? हमारी समझ में इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर ही होगा; क्योंकि हमलोगों ने वर्षों देखा है और हमलोग वैज्ञानिक विकास के सर्वनाशकर परिणामों को देख भी रहे हैं कि ये किस तरह सम्पूर्ण मानव को उच्छेदन की ओर ले जा रहे हैं । फिर भी धर्म के प्रति उपेक्षा की भावना अवशेष रह गई है । इसका कारण हमारी समझ में यही है कि अतीत का धर्म शुद्ध रूप से रूढ़िवादी (Dogmatic) था, तामसी निष्ठाओं का शिकार था और इस परिप्रेक्ष्य में धर्म मानव के लिए बिलकुल हितकारी नहीं था । परन्तु, यहाँ हम यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि धर्म का यही एकमात्र संप्रत्ययन (Conception) नहीं है । आज धर्म का संप्रत्ययन बिलकुल ही बदला हुआ है, जिसमें धर्म और तर्कबुद्धि का द्वन्द्व, आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ का द्वन्द्व, धर्म और विज्ञान का द्वन्द्व तथा धर्म और दर्शन का द्वन्द्व बिलकुल ही आकस्मिक एवं बाह्य है, स्थायी एवं आन्तरिक नहीं । इसी क्रम में हम यह भी जताने की चेष्टा करेंगे कि नवीन संप्रत्ययन में धर्म का लक्ष्य मानव के समक्ष एक सुस्पष्ट एवं परिस्पष्ट मार्ग

प्रस्तुत करना है, जिसमें मानव का सर्वांगीण विकास निहित है। इस तरह, अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि नए संप्रत्ययन में धर्म का भविष्य द्युतिमान एवं अग्रोन्मुख है।

अपने गन्तव्य पर पहुँचने के लिए हम लोगों के एकाधिकार को देखें, जिन्होंने कुछेक परिस्थितियों में धर्म के प्रति अनादर का भाव प्रदर्शित किया है। प्रायः लोगों की यह अवधारणा है कि धर्म अंधविश्वासों एवं सैद्धान्तिक आस्था तक ही सीमित है। इनका विश्वास है कि आवश्यक रूप से धर्म का कार्य दैवी अभिव्यक्ति है और इस दैवी अभिव्यक्ति का सामंजस्य मानव की व्यावहारिकता से बिलकुल नहीं है। इस तरह, धर्म को ये लोग अंधविश्वासों का अजायबघर मानते हैं और इसकी परिणति गुह्य आस्था में समझते हैं। ये यह भी मानते हैं कि धार्मिक प्रणयी अपने को गुह्य विचारों का अधिवक्ता घोषित करता है और इस संदर्भ में उसका अभिप्राय हमेशा अपने को जनसमुदाय से अलग रखना होता है। कारण, वह एक निष्ठावान व्यक्ति है, जिसके साथ जनसमुदाय का व्यवहार मेल नहीं खाता। जनसमुदाय वैसे निष्ठा के प्रति उतना जागरूक नहीं दीखता है; क्योंकि शायद वह ऐसा मान लेता है कि निष्ठा साधु, मुल्ला एवं अधिवक्ता तक ही सीमित है। जनसमुदाय की यह अवधारणा बहुत हद तक सत्य ही दीखती है; क्योंकि साधु, मुल्ला एवं अधिवक्ता अपनी युक्तियों को साधारण जनता के समक्ष इस रूप में रखते हैं कि वे युक्तियां जनसाधारण को ग्राह्य हों। अगर जनसाधारण को इनकी युक्तियाँ ग्राह्य न भी हों, तो भी इनका प्रयास उन्हें प्रभावित करना होता है। यहाँ पर एक वात स्पष्ट होती है कि साधु, मुल्ला एवं अधिवक्ता की युक्तियाँ स्वार्थपरक हैं। दूसरों को प्रभावित करने तथा अपने को सर्वश्रेष्ठ दिखाने की इस प्रवृत्ति को स्वार्थपरक नहीं तो और क्या कहा जा सकता है! फिर इन्हें आत्मकेन्द्रित कहा जाय, तो इसमें भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि इनके कार्य सामाजिक विचारों को हमेशा अवनति की ओर ले जाते रहे हैं और आज भी ले जा रहे हैं। अब, अगर इस परिप्रेक्ष्य में धर्म को हम मंदिर के पुजारियों, मस्जिद के मुल्लाओं एवं गिरजाघर के अधिवक्ताओं तक ही सीमित रखें, तो निश्चय ही धर्म का भविष्य अंधकारमय है।

परन्तु, धर्म का यही एकमात्र संप्रत्ययन नहीं है, बल्कि धर्म का एक दूसरा भी संप्रत्ययन है, जिसे हम तर्कबुद्धिपरक कह सकते हैं और इस परिप्रेक्ष्य

में हम एक तर्कबुद्धिपरक धर्म के संबंध में सोच सकते हैं। कुछ लोगों को तर्कबुद्धि एवं धर्म का साथ देख कर आश्चर्य होता है और इसीलिए वे प्रश्न कर बैठते हैं—क्या मानव एक ही साथ तर्कबुद्धि एवं धर्म की दुनिया में विचरण कर सकता है? यह प्रश्न प्रासंगिक एवं संगत है; क्योंकि कुछ लोगों ने तर्कबुद्धि और धर्म के स्वभाव को कुछ इस तरह खींचा है कि वे दोनों स्वभाव से एक-दूसरे के विरोधी दीख पड़ते हैं। इसी विरोधी स्वभाव का परिणाम है कि धर्म के कट्टर मतावलम्वी यह मानते हैं कि धर्म विना तर्कबुद्धि की सहायता लिए एक ऐसे अत्यानुभविक सत्ता को प्रस्तुत करने में समर्थ है, जिसकी कल्पना तर्कबुद्धि नहीं कर सकती। परन्तु, इनका यह एकाधिकार मानवीय व्यावहारिकता से मेल नहीं खाता। इसलिए इनकी स्थिति उस नाविक की भाँति हो जाती है, जो समुद्र की यात्रा विना किसी दिक्सूचक एवं मानचित्र की सहायता लिए करने की इच्छा रखता है। इस परिप्रेक्ष्य में उस नाविक का एकमात्र सहारा समुद्र की दयादृष्टि हो सकती है। परन्तु, यह भी उसे किसी हालत में प्राप्य नहीं होगी; क्योंकि समुद्र भावनारहित एवं विवेकहीन है। इसी तरह अगर एक निष्ठावान व्यक्ति ईश्वरीय श्रुति को बिना तर्कबुद्धि की सहायता लिए प्राप्त करना चाहता है, तो उसका प्रयास उस नाविक की भाँति ही निष्फल जायगा; क्योंकि वह निष्ठावान व्यक्ति भी तर्कबुद्धि को अपने से अलग रखने की इच्छा रखता है। इस तरह हम देखते हैं कि तर्कबुद्धि धर्म के अपरिमित सत्य का विरोधी नहीं, वल्कि पूरक है। परन्तु, तर्कबुद्धि इस कार्य का संपादन तभी कर सकता है, जबकि इसके व्यापक स्वरूप को दिखाया जाय। तर्कबुद्धि, अपने व्यापक स्वरूप में, सिर्फ तर्कीय अनुगमन (Raticcination) तक ही सीमित नहीं, वल्कि यह अपने अन्दर धर्म के क्रियात्मक, भावनात्मक एवं ज्ञानात्मक तीनों पहलुओं को समाविष्ट करता है। इस तरह तर्कबुद्धि का कार्य पुराने धार्मिक संप्रत्ययन का परिशोधन करना है और यह कार्य यह धर्म के अंधविश्वासों एवं मताग्रही आस्था को हटा कर करती है। फिर, इस क्रम में तर्कबुद्धि धर्म के प्रकाशनीय (Revelatory) कार्य को हटाती है तथा इसके व्यावहारिक पक्ष को ग्रहण करती है। इस परिप्रेक्ष्य में अगर धर्म अपरिमित सत्य की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है, तो इसके लिए तर्कबुद्धि की सहायता वांछनीय होगी और तभी धर्म इस परिवर्त्तित विश्व के साथ अपना सामंजस्य कायम रख सकता है। ऐसा इसलिए कि मनुष्य की आधुनिक प्रवृत्ति विलकुल वदल गई है। मानव आज ईश्वरीय ज्ञान जंगलों एवं

गुफाओं में प्राप्त नहीं करना चाहता, बल्कि इस तरह का ज्ञान वह समाज की सहानुभूति एवं सहायता द्वारा प्राप्त करना चाहता है। यह कार्य तर्कबुद्धि की सहायता द्वारा ही संभव है और इस अर्थ में तर्कबुद्धि धर्म के साथ-साथ चलते दीखती है।

तर्कबुद्धि, इस तरह धार्मिक विचारों का परिशोधन तो करती है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस कार्य में तर्कबुद्धि को पूर्ण सफलता प्राप्त हो गई है। वास्तविकता यह अवशेष है कि हम परिमित और अपरिमित की भिन्नता को अभी भी स्वीकार करेंगे। ऐसा करना भी स्वाभाविक होगा; क्योंकि ईश्वर को हम अपने पड़ोसी की भाँति नहीं जान सकते। पड़ोसी एक परिमित सत्ता है, जबकि ईश्वर एक अपरिमित सत्ता है। हम इस विभिन्नता को दूर नहीं करना चाहते, बल्कि ईश्वर की अनन्तता को हम चिरस्थायी रखना चाहते हैं; क्योंकि हम परिमित हैं। परन्तु, यदि एक परिमित सत्ता एक अपरिमित सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, तो इसमें कोई विरोध नहीं दीखता; क्योंकि उस अपरिमित सत्ता का मूल्य परिमित के साथ सामंजस्य स्थापित करने में ही है, अन्यथा फिर उसे अव्यावहारिक करार कर दिया जायगा। इस क्रम में यद्यपि ईश्वर कुछ गुह्य कार्यों का संपादन करता है, तो भी वह पूर्णतः गुह्य नहीं है; क्योंकि उसका एक उद्देश्य मनुष्य के समीप भी आना है। इस तरह, ईश्वर को गुह्य होते हुए भी हम मानव अपने विचारों, संवेगों, भावनाओं एवं आचरणों द्वारा उसका बोध पा सकते हैं। इस क्रम में यह कहा जा सकता है कि हम मानव अपनी प्रार्थनाओं एवं आराधनाओं द्वारा ईश्वर को प्रसन्न कर सकते हैं तथा अपनी अवज्ञा द्वारा उसे अप्रसन्न कर सकते हैं। ईश्वर की प्राप्ति में अगर अधिवक्ताओं एवं साधुओं को लाना अपेक्षित माना जाय, तो पुन: धर्म के अंधकारमय भविष्य की कामना करने लगेंगे। इसलिए यही मानना न्यायोचित होगा कि ईश्वर तक पहुँचने के लिए मानव का अपना प्रयास ही पर्याप्त एवं हितकर है। यहाँ पर एक शंका उठती है—क्या मानवीय विचार और ईश्वरीय विचार में सामंजस्य हो सकता है? यह प्रश्न प्रासंगिक एवं संगत है। ईश्वरीय एवं मानवीय विचारों के बीच सामंजस्य है; क्योंकि ईश्वर मानव के समीप आने पर ही सार्थक होता है तथा मानव भी ईश्वर को समीप पाकर सामाजिक सहानुभूति एवं सहायता द्वारा उस तक पहुँचता है। यह ठीक ही कहा गया है—"We confine in Him our hopes and aspirations, we fear His wrath and anticipate His justice, we

pray for His mercy and appreciate His grace, we turn to Him for succour on earth and salvation in Heaven, we adore His greatness and marvel at His wisdom, we offer Him grateful thanks and obediently carry out His orders, we worship Him for His goodness and love Him for His benignity."[1] ये पंक्तियाँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि एक मानव स्वेच्छा एवं तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर का बोध पा सकता है।

फिर कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि सिर्फ लोककृत तर्कबुद्धि ही धार्मिक विचारों का परिशोधन करती है और तर्कीय तर्कबुद्धि का धार्मिक विचारों से कोई संबंध नहीं है। लोककृत तर्कबुद्धि धार्मिक विचारों का परिशोधन करने में इसलिए समर्थ है; क्योंकि यह मानवीय इच्छाओं का परिणाम है। इस तरह तर्कीय तर्कबुद्धि की प्रवृत्ति धार्मिक विचारों को बहिष्कृत करना, ईश्वर के संबंध में प्रस्थापित युक्तियों को निराधार साबित करना तथा ईश्वरीय ज्ञान-संबंधी मानवीय आकांक्षाओं को हतोत्साहित करना न्यायोचित एवं तर्कमूलक है। फिर, तार्किकता यह भी स्वीकार करती है कि तर्कबुद्धि परिमित मानव तक ही सीमित है और अपरिमित सत्ता को इससे कोई संबंध नहीं है। इस तरह यह कहा जाता है कि परिमित एवं अपरिमित के बीच जब इतनी भिन्नताएँ हैं, तो फिर दोनों का आपस में सामंजस्य कैसे होगा। इसलिए यही कहना तर्कीय है कि धर्म का आधार आस्था है, जिसका प्रतिस्थायी तर्कबुद्धि नहीं हो सकती।

परन्तु, इन सामान्य लोगों का तर्क हमारी समझ में नहीं आता कि अगर तर्कबुद्धि मानवीय गुणधर्म है, तो फिर यह ईश्वर का गुणधर्म क्यों नहीं हो सकता है? यह सत्य है कि तर्कबुद्धि की परिस्पष्टता मानव में ही देखी जाती है, परन्तु मानव परिमित होने के कारण हमेशा एक अपरिमित सत्ता के ज्ञान की आकांक्षा रखता है। फिर अपरिमित सत्ता भी अपनी सार्थकता मानव के समीप पहुँचने में ही समझती है। फिर, मानव ईश्वर की ही रचना है। इसलिए जो गुणधर्म ईश्वर में नहीं होगा, वह मानव में कैसे आ सकता है?

---

1. H. D. Bhattacharya, *Reason and Religion*, Philosophical Quarterly, Vol. VI, 1930. p. 10.

गुफाओं में प्राप्त नहीं करना चाहता, वल्कि इस तरह का ज्ञान वह समाज की सहानुभूति एवं सहायता द्वारा प्राप्त करना चाहता है। यह कार्य तर्कबुद्धि की सहायता द्वारा ही संभव है और इस अर्थ में तर्कबुद्धि धर्म के साथ-साथ चलते दीखती है।

तर्कबुद्धि, इस तरह धार्मिक विचारों का परिशोधन तो करती है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस कार्य में तर्कबुद्धि को पूर्ण सफलता प्राप्त हो गई है। वास्तविकता यह अवशेष है कि हम परिमित और अपरिमित की भिन्नता को अभी भी स्वीकार करेंगे। ऐसा करना भी स्वाभाविक होगा; क्योंकि ईश्वर को हम अपने पड़ोसी की भाँति नहीं जान सकते। पड़ोसी एक परिमित सत्ता है, जबकि ईश्वर एक अपरिमित सत्ता है। हम इस विभिन्नता को दूर नहीं करना चाहते, वल्कि ईश्वर की अनन्तता को हम चिरस्थायी रखना चाहते हैं; क्योंकि हम परिमित हैं। परन्तु, यदि एक परिमित सत्ता एक अपरिमित सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, तो इसमें कोई विरोध नहीं दीखता; क्योंकि उस अपरिमित सत्ता का मूल्य परिमित के साथ सामंजस्य स्थापित करने में ही है, अन्यथा फिर उसे अव्यावहारिक करार कर दिया जायगा। इस क्रम में यद्यपि ईश्वर कुछ गुह्य कार्यों का संपादन करता है, तो भी वह पूर्णतः गुह्य नहीं है; क्योंकि उसका एक उद्देश्य मनुष्य के समीप भी आना है। इस तरह, ईश्वर को गुह्य होते हुए भी हम मानव अपने विचारों, संवेगों, भावनाओं एवं आचरणों द्वारा उसका बोध पा सकते हैं। इस क्रम में यह कहा जा सकता है कि हम मानव अपनी प्रार्थनाओं एवं आराधनाओं द्वारा ईश्वर को प्रसन्न कर सकते हैं तथा अपनी अवज्ञा द्वारा उसे अप्रसन्न कर सकते हैं। ईश्वर की प्राप्ति में अगर अधिवक्ताओं एवं साधुओं को लाना अपेक्षित माना जाय, तो पुनः धर्म के अंधकारमय भविष्य की कामना करने लगेंगे। इसलिए यही मानना न्यायोचित होगा कि ईश्वर तक पहुँचने के लिए मानव का अपना प्रयास ही पर्याप्त एवं हितकर है। यहाँ पर एक शंका उठती है—क्या मानवीय विचार और ईश्वरीय विचार में सामंजस्य हो सकता है? यह प्रश्न प्रासंगिक एवं संगत है। ईश्वरीय एवं मानवीय विचारों के बीच सामंजस्य है; क्योंकि ईश्वर मानव के समीप आने पर ही सार्थक होता है तथा मानव भी ईश्वर को समीप पाकर सामाजिक सहानुभूति एवं सहायता द्वारा उस तक पहुँचता है। यह ठीक ही कहा गया है—"We confine in Him our hopes and aspirations, we fear His wrath and anticipate His justice, we

pray for His mercy and appreciate His grace, we turn to Him for succour on earth and salvation in Heaven, we adore His greatness and marvel at His wisdom, we offer Him grateful thanks and obediently carry out His orders, we worship Him for His goodness and love Him for His benignity."[1] ये पंक्तियाँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि एक मानव स्वेच्छा एवं तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर का बोध पा सकता है।

फिर कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि सिर्फ लोककृत तर्कबुद्धि ही धार्मिक विचारों का परिशोधन करती है और तर्कीय तर्कबुद्धि का धार्मिक विचारों से कोई संबंध नहीं है। लोककृत तर्कबुद्धि धार्मिक विचारों का परिशोधन करने में इसलिए समर्थ है; क्योंकि यह मानवीय इच्छाओं का परिणाम है। इस तरह तर्कीय तर्कबुद्धि की प्रवृत्ति धार्मिक विचारों को बहिष्कृत करना, ईश्वर के संबंध में प्रस्थापित युक्तियों को निराधार साबित करना तथा ईश्वरीय ज्ञान-संबंधी मानवीय आकांक्षाओं को हतोत्साहित करना न्यायोचित एवं तर्कमूलक है। फिर, तार्किकता यह भी स्वीकार करती है कि तर्कबुद्धि परिमित मानव तक ही सीमित है और अपरिमित सत्ता को इससे कोई संबंध नहीं है। इस तरह यह कहा जाता है कि परिमित एवं अपरिमित के बीच जब इतनी भिन्नताएँ हैं, तो फिर दोनों का आपस में सामंजस्य कैसे होगा। इसलिए यही कहना तर्कीय है कि धर्म का आधार आस्था है, जिसका प्रतिस्थायी तर्कबुद्धि नहीं हो सकती।

परन्तु, इन सामान्य लोगों का तर्क हमारी समझ में नहीं आता कि अगर तर्कबुद्धि मानवीय गुणधर्म है, तो फिर यह ईश्वर का गुणधर्म क्यों नहीं हो सकता है? यह सत्य है कि तर्कबुद्धि की परिस्पष्टता मानव में ही देखी जाती है, परन्तु मानव परिमित होने के कारण हमेशा एक अपरिमित सत्ता के ज्ञान की आकांक्षा रखता है। फिर अपरिमित सत्ता भी अपनी सार्थकता मानव के समीप पहुँचने में ही समझती है। फिर, मानव ईश्वर की ही रचना है। इसलिए जो गुणधर्म ईश्वर में नहीं होगा, वह मानव में कैसे आ सकता है?

---

1. H. D. Bhattacharya, *Reason and Religion*, Philosophical Quarterly, Vol. VI, 1930. p. 10.

अतः, हम यहाँ पर यही कहेंगे कि तर्कबुद्धि मानव एवं ईश्वर दोनों का गुण-धर्म है। धर्म की यह अभ्यर्थना अभी जीवित है और वर्षों जीवित रहेगी। कारण, विज्ञान जीव की उत्पत्ति की व्याख्या करने में पूर्णतः सफल नहीं है। यह सत्य है कि इन दिनों अमेरिका में यह प्रयास चल रहा है कि जीव की उत्पत्ति की व्याख्या की जा सकती है तथा इस क्रम में वैज्ञानिक कुछ दूर तक सफलता हासिल भी कर पाये हैं। वे एक विशेष प्रकार की नली में एक जीव-विहीन बच्चे को तैयार करने में सफल हुए हैं, परन्तु इससे तो समस्या का निदान नहीं माना जा सकता। अतः, जब तक वे समस्या का निदान नहीं कर पाते, तब तक तो हम यही कहेंगे कि यदि तर्कबुद्धि ईश्वर में नहीं है, तो यह मनुष्य में कैसे आयगी? फिर हमारा निदान यही होगा कि तर्कबुद्धि सर्वप्रथम ईश्वर का गुणधर्म है और बाद में यह ईश्वर-सायुज्य (Communion with God) से मानव का 'गुणधर्म' हो जाता है। कुछ लोग इस 'गुणधर्म' शब्द पर भी आपत्ति कर सकते हैं, यह कह कर कि 'गुणधर्म' एक ऐसा शब्द है, जो परिमित सत्ता के साथ व्यवहृत होता है, अपरिमित सत्ता के साथ नहीं। परन्तु, हमारा यहाँ यही कहना है कि वे लोग 'गुणधर्म' शब्द का साधारण अर्थ लेते हैं और इस अर्थ में यह अपरिमित के साथ व्यवहृत नहीं होगा। परन्तु, जब हम 'गुणधर्म' को ईश्वर के साथ व्यवहृत करते हैं, तो इसका सदा व्यापक अर्थ ही लेते हैं। इस तरह ऐसा करने से वर्गदोष की भी संभावना जाती रहती है। इसलिए हम ईश्वर को तर्कबुद्धिपरक अपरिमित सत्ता मान सकते हैं। जैसा कि कहा गया है—"Religion must insist upon the fact that the intellect too belongs to God; that it is a gift of God which may be used in the service, and indeed ought to be so used. Hence, religion itself requires that a high value shall be set up on the intellect, which neverthless, must be satisfied with a position below the highest."[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि ईश्वरीय विचार तर्कबुद्धि एवं आस्था दोनों के लिए हितकर है। यह सत्य है कि ईश्वर का व्यावहारिक निदर्शन कठिन है, परन्तु असंभव नहीं। वे लोग जो कठिन परिश्रम किए हैं, कर रहे हैं और करेंगे, वे व्यावहारिक निदर्शन द्वारा भी

---

1. James Hastings Ed. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. VII, New York, 1956, ab., p. 378.

ईश्वर का बोध पाए हैं, पा रहे हैं और पायेंगे। दूसरे शब्दों में, जिन्हें अन्तः-प्रज्ञ अन्तर्दृष्टि प्राप्त है, वे ईश्वर के व्यावहारिक निदर्शन में अवश्य सफल हैं। अगर अन्तःप्रज्ञ अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति में मानव असमर्थ है, तो यह मानव की कमजोरी होगी, ईश्वर की कदापि नहीं; क्योंकि प्रयास तो मानव को ही करना है। इस तरह धर्म और बुद्धि के बीच विरोध नहीं, बल्कि सामंजस्य है और उस परिप्रेक्ष्य में धर्म का भविष्य द्युतिमान एवं पुरोलक्षी है।

धर्म का सबसे ज्यादा विवादास्पद प्रत्यय ईश्वर-प्रत्यय है। प्रायः व्यक्ति ईश्वर-प्रत्यय को मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से संबंधित करते हैं अर्थात् ईश्वर-प्रत्यय को शुद्ध आत्मनिष्ठ मानते हैं और इसका आधार धर्म के अन्दर भावना का प्रमुख स्थान दिखाते हैं। इस तरह धर्म और तर्कबुद्धि के बीच विरोध दिखा कर धर्म के भविष्य को अंधकारमय घोषित करते हैं। परन्तु, धर्म के प्रति यह प्रहार हमारी समझ में एक पक्षपातपूर्ण प्रहार है। वास्तव में आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ का विवाद ही गलत है। आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ का यह द्वैत सभी हालतों में सही नहीं है। धर्म के संबंध में भी यही बात सत्य है, जहाँ पर इस द्वैत को अनम्य रूप में कायम नहीं रखा जा सकता। धार्मिक सत्यों के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वे या तो आत्मीय-वस्तुनिष्ठ हैं या विषयी-आत्मनिष्ठ। वे आत्मीय-वस्तुनिष्ठ हैं; क्योंकि एक व्यक्ति जो उन सत्यों में विश्वास करता है, वह यह भी विश्वास करता है कि यह आस्था सिर्फ उसी के साथ नहीं है, बल्कि यह आस्था दूसरों के लिए भी मान्य है। इसी तरह वे विषयी-आत्मनिष्ठ हैं; क्योंकि जो व्यक्ति किसी भी धार्मिक सत्य की विषमता का दावा करता है, वह आन्तरिक रूप से यह विश्वास करता है कि यह सभी व्यक्तियों द्वारा आवश्यक रूप से अपनाया जायगा। इस तरह, आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ का उग्र द्वैत धराशायी हो जाता है और यदि ऐसा है, तो तर्कबुद्धि और धर्म के विरोध को कायम रखना उचित नहीं होगा, सिर्फ इस आधार पर कि एक वस्तुनिष्ठ है और दूसरा आत्मनिष्ठ। इस तथ्य को संक्षेप में इस तरह रखा जा सकता है—"The task of reason is to disclose the truth, and the fulness of the truth is embodied in religion. Religion is an original and ineradicable characteristic of human life. Consequently, it is related to the essential structure of our nature and discloses its true character to the scrutiny of reason. It is a

chain of principles, which being received as true, are the reason obliging us to the performance or non-performance of such and such actions'."[1]

फिर 'ईश्वर के प्रत्यय' का एक व्यावहारिक पक्ष भी है, जिसके कारण धर्म को आत्मनिष्ठ नहीं माना जा सकता। हमारे व्यावहारिक जीवन में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ पर हम ईश्वर की दया की याचना करते हैं। एक ऐसा उदाहरण यहाँ पर रखना अनुचित नहीं होगा। मान लें कि अभी हमलोग कमरे में बैठे गोष्ठी कर रहे हैं और अचानक वह मकान वेपथुमान की स्थिति में हो जाता है। अगर बाहर जाने का उपक्रम करते हैं, तो बाहर निकलने में काफी समय लगने के कारण हम मृत्यु को प्राप्त करते हैं और कमरे के अन्दर रहते हैं, तो भी हम मृत्यु को प्राप्त करेंगे। इन परिस्थितियों में हम ईश्वर की दया की याचना करने लगते है; क्योंकि हमारे समक्ष कोई दूसरा विकल्प नहीं रह जाता है। अनीश्वरवादी, तर्कीय प्रत्यक्ष-वादी एवं तर्कीय विश्लेषणवादी, जो अभी यहाँ बैठे हैं, वे इस मन्तव्य के प्रति अपनी-अपनी प्रतिक्रियाएं अभिव्यक्त कर सकते है, परन्तु उनकी ये प्रतिक्रियाएँ यहाँ बाह्य होंगी। वास्तव में वे भी अन्दर से ईश्वर की ही दया पर आश्रित हैं, परन्तु वे व्यक्त नहीं करते। दूसरी ओर एक धार्मिक अपनी भावनाओं को व्यक्त कर देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी व्यक्ति, चाहे वे वैज्ञानिक हों या दार्शनिक या धार्मिक, आपत्काल में ईश्वर की दया की याचना करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि धर्म आत्मनिष्ठ ही नहीं, बल्कि वस्तुनिष्ठ भी है और फिर इस अर्थ में भी धर्म का भविष्य अंधकारमय नहीं दीखता।

आज धर्म को वैज्ञानिक प्रबोध एवं दार्शनिक विमर्श का सामना करना पड़ रहा है। वैज्ञानिक प्रबोध और दार्शनिक विमर्श धार्मिक विचारों को जड़ से समाप्त करने में प्रयत्नशील हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि दोनों का संबंध तर्कीय तर्कबुद्धि से है और इनकी राय में तर्कबुद्धि का संबंध धर्म से नहीं है। विज्ञान धार्मिक विचारों का उन्मूलन यह कह कर करता है

1. Burnet, True Religion, Vol. III, p. 406. Lines taken from Gerald R. Cragg, Reason and Authority in the Eighteenth Century, London, 1964, p. 48.

कि धर्म अनुभवातीत सत्य से संबंधित है, जो तर्कमूलक नहीं है। परन्तु, विज्ञान के इस दावे को हम स्वीकार नहीं कर सकते; क्योंकि कुछ वैज्ञानिक ऐसे हैं, जिन्होंने धर्म को अपने वैज्ञानिक जीवन मे अपनाया है और अपनाने की सहमति भी जतायी है। प्लैंक एवं आइन्स्टाइन आदि प्रमुख वैज्ञानिक माने जाते रहे हैं, जिन्होंने अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में जोश में आकर धर्म के प्रति अनिष्ठा का भाव अभिव्यक्त किया है, परन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में इन दोनों ने धार्मिक विचारों को अपनाया है। खास कर इन्होंने धर्म की सत्यता को अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानों में पाया है। यह सत्य है कि इन्होंने धर्म के प्रकाशयुक्त स्वभाव को नहीं अपनाया है, वल्कि इन्होंने धर्म का एक विलक्षण स्वरूप निर्धारित कर अपनाया है। इस तरह ये वैज्ञानिक धर्म और विज्ञान के विरोध को स्वीकार नहीं करते।

प्लैंक यह मानते हैं कि विश्व की धार्मिक और वैज्ञानिक व्याख्याओं में सामंजस्य है, इस अर्थ में कि मानवीय जीवन के संतुलित प्रगमन को दोनों अंगीकार करते हैं। इसलिए दोनों के बीच कोई वास्तविक विरोध नहीं दीखता; क्योंकि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस संदर्भ में प्रत्येक विमर्शी चिन्तक यह अंगीकार करता है कि मानव-जीवन को संतुलित एवं सामंजस्य रूप देने में धार्मिक तत्त्वों का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैसा कि प्लैंक कहते हैं—"The religious interpretation of world is in conformity with the scientific one, and both have their right in a balanced development of the human spirit. There can never be any real opposition between religion and science, for the one is the complement of the other. Every serious and reflective person realises that the religious element in his nature must be recognised and cultivated if all the powers of the human soul are to act together in perfect balance and harmony.[1]

आइन्स्टाइन के अनुसार धर्म की तीन स्थितियाँ हैं—पुरुषविध स्थिति, नैतिक स्थिति एवं जागतिक धर्म की स्थिति। विज्ञान पुरुषविध की स्थिति

1. Max Planck, Where is Science Going ?, London, 1933, p. 168.

में पाये जाने वाले धार्मिक प्रवृत्तियों का शुद्धिकरण करता है। साथ-ही-साथ यह जीवन के धार्मिक अध्यात्म को भी सबल बनाता है। जैसा कि वे कहते हैं—"And so it seems to me that science not only purifies the religious impulse of the dross of its anthropomorphism, but also contributes to a religious spiritualisation of our understanding of life".[1] जागतिक धर्म के अनुसार विश्व को तर्कमूलक विश्व समझा जाता है। ईश्वर को आइन्स्टाइन अवैयक्तिक मानते हैं तथा वैसे ईश्वर को अस्वीकार करते हैं, जो मानव का भाग्यनिर्माता है। ये वैसे ईश्वर का स्थान देते हैं, जो स्पीनोजा के ईश्वर की तरह अपने को विश्व में प्रस्फुटित करता है। यह और भी स्पष्ट होता है, जब वे स्वयं कहते हैं—"The God of cosmic religion is quite impersonal. I believe in spinoza's God who reveals himself in the orderly harmony of what exist, not in a God who concerns himself with the destinies and actions of human beings."[2] पुन: ये मानते हैं कि भौतिक विज्ञान अमूर्त्त है और ये अपरिमित सत्य तक पहुँचने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इसलिए इनके अनुसार सत्य-बोध हेतु एक अन्य मार्ग अवशेष पर रह जाता है, जिसे वे गुह्य मानते हैं। ऐसा इसलिए कि आधुनिक विज्ञान गुह्य अनुभूतियों की व्याख्या करने में असमर्थ है। जैसा कि कहा गया है—"Modern science does not offer a 'proof' of religion which could be substituted for the mystical experience, but, by abolishing the notion of an innert material substance and the notion of strict universal determinism, it encourages a spiritual view of the world and lends its support to the mystical insight."[३]

1. Albert Einstein, D. J. Bronstein Ed. *Science and Religion* in Approaches to the Philosophy of Religion, U. S. A., 1954, p. 72.
2. P. A. Schlipp ed. Albert Einstein, Philosopher—Scientist, New York, 1959, pp. 659-60
3. John Macquarrie, Twentieth Century Religious Thought, London, 1963, pp. 247-48.

यहाँ पर इन वैज्ञानिकों की चर्चा हमने इसलिए आवश्यक समझा कि विज्ञान और धर्म का विरोध, जो हमेशा उग्र रूप धारण करता रहा है, वास्तव में विज्ञान को ठीक-ठीक न समझने का परिणाम है। जैसा कि हमलोगों ने देखा कि विज्ञान और धर्म में उतना विरोध नहीं, जितना लोगों ने दिखाने का प्रयास किया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक भी धर्म के द्युति-मान एवं पुरोलक्षी भविष्य की कामना करते हैं। ये ऐसा करने के लिए बाध्य हैं; क्योंकि ये समझते हैं कि इनका आविष्कार सिर्फ सीमित वस्तुओं तक ही सीमित है और इस तरह से अनुभव करते हैं कि एक असीमित एवं अपरि-मित सत्य की बात रह ही जाती है, जिसकी प्राप्ति सिर्फ धर्म द्वारा ही संभव है। जैसे—एक डॉक्टर रोगी को जिन्दा रखना चाहता है, परन्तु अपने अथक प्रयासों के बाद भी वह ऐसा कर सकने में असमर्थ रह जाता है। अब उसके समक्ष एक ही विकल्प अवशेष रह जाता है या वह यह सोचने के लिए बाध्य हो जाता है कि एक अपरिमित सत्ता ईश्वर है, जो इस काम को कर सकता है। अगर यह प्रश्न आरोपित किया जाए कि ईश्वर क्यों नहीं रोगी को बचा पाता है, तो हमारा उत्तर यही होगा कि यह ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है। इस संदर्भ में हम विशेष तर्क प्रस्तुत करना चाहेंगे, तो एक विवाद में उलझ जायेंगे, जिसमें अन्य धार्मिक प्रश्न सम्मिलित हो जायेंगे, जिनका अन्त कभी नहीं होने को है। हमारी समझ में अच्छा तो यही होगा कि इस विवाद—धर्म और विज्ञान का विरोध—को यहीं समाप्त यह कह कर करें कि वैज्ञानिक और धार्मिक विचारों के बीच वह प्रतिभाव नहीं, जितना लोग समझते हैं और इस तरह हम कह सकते हैं कि इस परिप्रेक्ष्य में भी धर्म का भविष्य अंधकारमय नहीं, बल्कि द्युतिमान एवं पुरोलक्षी है।

धर्म और दर्शन का विरोध भी अतिप्राचीन है। यहाँ पर हमारा लक्ष्य समकालीन दार्शनिक विमर्शों के परिप्रेक्ष्य में ही धर्म और दर्शन के प्रतिभाव को दिखाना है। समकालीन दार्शनिक विमर्श जैसे—तर्कीय प्रत्यक्षवाद एव तर्कीय विश्लेषणवाद धार्मिक प्रकथनों को निरर्थक, अर्थहीन एवं अनुपयोगी घोषित करते हैं। इसके लिए इन विमर्शों ने एक सिद्धान्त की प्रस्थापना की है, जिसे सत्यापन-सिद्धान्त कहा जाता है। सत्यापन-सिद्धान्त के अनुसार वे ही प्रकथन सार्थक एवं उपयोगी हैं, जिनका आनुभविक सत्यापन संभव हो। धार्मिक प्रकथनों का आनुभविक सत्यापन संभव नहीं है। अतः, ये निरर्थक, अर्थहीन एवं अनुपयोगी हैं। परन्तु, हम यहाँ पर एक प्रश्न उठायेंगे—क्या

वे ऐसा सिद्ध करने में सफल हैं ? हमारा उत्तर अन्य लोगों की ही तरह निषेधात्मक होगा। वास्तव में तर्कीय प्रत्यक्षवादी एवं तर्कीय विश्लेषणवादी धार्मिक प्रकथनों को इसीलिए निरर्थक घोषित करते हैं; क्योंकि वे वैज्ञानिक भाषा को अपना मानक (Norm) मानते हैं और दर्शन का कार्य संप्रत्ययों के विश्लेषण तक ही सीमित रखते हैं। परन्तु, पुनः एक प्रश्न उठाया जा सकता है—क्या दर्शन का कार्य यही एकमात्र है ? हमारा उत्तर पुनः निषेधात्मक होगा; क्योंकि दर्शन के अन्य भी कार्य हैं। इस संदर्भ में प्रो० एन० वी० बनर्जी का कथन बहुत कुछ प्रासंगिक एवं संगत दीख पड़ता है। इनके दृष्टिकोण में दर्शन का एकमात्र कार्य विश्लेषण नहीं हो सकता: क्योंकि दर्शन का यह कार्य दर्शन के लक्ष्य का मात्र साधन ही बन पाता है, स्वयं लक्ष्य नहीं। यह ज्यादा स्पष्ट होता है, जब वे स्वयं कहते हैं—"Why should language be the sole concern of philosophical activity and why should philosophy be identified with linguistic analysis ? In the field of philosophy the importance of linguistic analysis may lie only in its being a means to an end, namely, philosophising, and not in its being an end in itself."[1] इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन का संबंध सिर्फ विश्लेषण से नहीं, बल्कि इसके और भी महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। वास्तव में दर्शन एक शैक्षिक निग्रह (academic discipline) है, जिसके अनुसार इसका कार्य मानव को जीवन की उलझनों से मुक्त करना है तथा सम्पूर्ण व्यक्तियों के बीच पार्षदभाव की उत्पत्ति करना है। प्रो० एन० वी० बनर्जी कहते हैं—"Philosophy is an autonomous academic discipline with certain problems of its own, and that of these problems the most urgent is that of the liberation of mankind, consisting in the direct communion of oneself and one's fellows."[2] अब, अगर दर्शन का कार्य मानव-जीवन की उलझनों को मुक्त करना एवं सम्पूर्ण मानव के बीच पार्षदभाव की उत्पत्ति करना है,

---

1. N. K. Deoraj ed. *The concept of philosophy*, Proceedings of the first All India Seminar, 1965, The Centre of Advanced Study in Philosophy, B. H. U., Varanasi, pp. 2-3.

२. वही, पृ० १२।

तो धर्म से इसका कोई विरोध नहीं है; क्योंकि धर्म का कार्य भी एक आत्मा और दूसरी आत्मा के बीच अनुलोम सायुज्य (Direct Communion) तथा एक आत्मा और दूसरी आत्मा के बीच पार्षदभाव की उत्पत्ति करना है। इस तरह, धर्म दर्शन की भाँति सम्पूर्ण मानव को विषमताओं, विपदाओं एव भयावह सर्वनाश से मुक्त करने में सतत प्रयत्नशील है।

पुनः, सत्यापन का सिद्धान्त एक सबल सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि जिस सिद्धान्त को लेकर यह अग्रसर होता है, वह सिद्धान्त इसी पर ही लागू नही होता। इस तरह, अगर कोई व्यक्ति ऐसे कमजोर सिद्धान्त का अनुसरण कर धार्मिक प्रकथनों को निरर्थक एवं अनुपयोगी सिद्ध करता है, तो उसके द्वारा धर्म पर एक अन्याय समझा जायगा या उसका यह कथन आत्मकेन्द्रित, अत्युक्त, अभिनत एवं पक्षपातपूर्ण कहा जाएगा। फिर धार्मिक प्रकथन अगर सत्यापनीय नहीं हैं, तो इससे यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जा सकता कि ये बिलकुल ही निरर्थक एवं अनुपयोगी हैं। ब्रेथवेट, जो एक समकालीन धार्मिक विश्लेषणवादी हैं, ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धार्मिक प्रकथन न तो आनुभविक सत्यापनीय हैं और न ही पुनरुक्तियाँ। फिर भी ये निरर्थक नहीं हैं; क्योंकि ये किसी-न-किसी तरह हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में धार्मिक प्रकथनों का एक अपना विशेष उपयोग है और अगर ये उपयोगी हैं, तो फिर ये अर्थपूर्ण भी हैं। यह ज्यादा स्पष्ट होता है, जब हम ब्रेथवेट की कुछ पंक्तियों को रखते हैं—"Religion is regarded as primarly a way of life. Religious beliefs are not assertions about supersible realities nor are they merely emotive utterances, they have rather a conative character. The care of all the great religions is the agapastic way of life."[1] इस तरह ब्रेथवेट के अनुसार धर्म का कार्य मानव-जीवन को एक परिस्पष्ट एवं परिस्फुट मार्ग प्रस्तुत करना है। इसी संदर्भ में प्रो० हीक ब्रेथवेट से भी आगे बढ़ते दीखते हैं, जब वे कहते हैं कि धार्मिक प्रकथनों का आनुभविक सत्यापन संभव है। वे कहते हैं कि मृत्यु के उपरान्त विषयाजल (Survival) की बात आती है। यहाँ पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता तथा यह अर्थपूर्ण भी है कि मन का शरीर से विलगाव होता है। प्रो० हीक कहते हैं कि तर्कीय विलक्षणता द्वारा भी इसकी

1. R. B. Braithwaite, An Empiricist's View of the Nature of Religious Belief, Cambridge, 1955, p. 10.

संपुष्टि की जा सकती है । इसके लिए वे कुछ निश्चायक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । प्रो० ह्रीक कहते हैं कि धार्मिक प्रकथन सत्यापन योग्य हैं और ये अर्थपूर्ण भी हैं ।

इस तरह, धार्मिक विश्लेषणवादी दार्शनिकों की अभिव्यक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक प्रकथन अगर सत्यापनीय न भी हैं तो भी इनका संबंध चूँकि मानव-जीवन के व्यावहारिक पहलू से है तथा ये मानव-जीवन को एक स्पष्ट मार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं, इसलिए ये निरर्थक एवं अनुपयोगी नहीं हैं । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अगर धर्म का कार्य मानव-जीवन को एक स्पष्ट मार्ग का दिग्दर्शन कराना है, तो इस अर्थ में दर्शन से इसका कोई विरोध नहीं है । जैसा कि ऊपर दर्शाया गया कि दर्शन का संबंध मानव-जीवन से है । अतः, हमें यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं दीखता कि धर्म और दर्शन का विरोध आकस्मिक एवं वाह्य है स्थायी एवं आन्तरिक नहीं । इस तरह, धर्म और दर्शन के विरोध के परिप्रेक्ष्य में भी धर्म का भविष्य द्युतिमान ही दीखता है ।

वास्तव में धर्म का क्षेत्र विज्ञान और दर्शन से अधिक व्यापक है । अतः, हमारी समझ में विज्ञान एवं दर्शन अगर धर्म के क्षेत्र में घुसपैठ करते हैं; तो इस घुसपैठ से धर्म को कोई हानि नहीं पहुँचती; क्योंकि विज्ञान और दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मानव-जीवन को पार्षद-भाव प्रदान करना है और यही मनोवृत्ति धर्म की भी है । माना कि धर्म का आधार आस्था है, परन्तु अगर तर्क-बुद्धि इस आस्था के साथ घुसपैठ करती है, तो इससे आस्था को कोई हानि नहीं पहुँचती, वल्कि इससे आस्था की निश्चितता की संभावना और भी अत्यधिक हो जाती है । इस तरह, धर्म भी अधिक-से-अधिक विश्वसनीय हो जाता है । फिर, हम मानव होने के नाते अगर सम्पूर्ण मानवता को भयंकर सर्वनाश से वचाने को तनिक भी सोचते हैं, तो हमें विज्ञान, दर्शन एवं धर्म को एक ही परिप्रेक्ष्य में रखना होगा तथा तीनों के अतिव्यापक दृष्टिकोणों को भी अपनाना होगा । पूर्ण मानवता के प्रगमन में ऐसा कदापि नहीं होगा कि किसी एक को अंगीकार कर दूसरे को तिरस्कृत करें । हम यह भी मानते हैं कि प्रत्येक का अपना एक विशेष क्षेत्र है और वे अपने क्षेत्र में ही कार्य करते हैं, परन्तु इससे वे मानवता का हित पहुँचाने में वंचित रहेंगे । अतः, पूर्ण संतोषप्रद मानव-जीवन के लिए तीनों के अनुभवों की आवश्यकता एक साथ है । ये तीनों अनुभव एक साथ मिलने पर ही एक संसत्र (Coherent) सत्य प्रदान कर सकते हैं, जिससे हमारा व्यावहारिक जीवन सचालित होता है । यह संभव भी है;

क्योंकि हमने पहले ही यह जताने का प्रयास किया कि दर्शन, विज्ञान एवं धर्म तीनों का अंतिम लक्ष्य मानव-जीवन का हित पहुँचाना है। जिस संसग्र-सत्य की प्राप्ति होती है, वह तर्कमूलक होता है। धर्म भी इसे स्वीकार करता है। कारण, धर्म मानव-जीवन के प्रति एक अभिवृत्ति (Attitude) है, जिसमें मानव-जीवन की तर्कमूलक अभिज्ञा पूर्णरूपेण प्रकाशित होती है। धर्म के प्रति विज्डम का भी यही खयाल है। वे भी धर्म को मानव-जीवन के प्रति एक अभिवृत्ति मानते है, जिसके द्वारा मानव-व्यवहार का प्रतिमान प्रकाशित होता है। इन पंक्तियों द्वारा हम इस तथ्य को और भी सबल बना सकते हैं—"Religion, in short, is the name for one's total conscious attitude towards life, as it is formed and enlightened by rational awareness and knowledge. Science, in the narrower sense, is an integral and indispensable factor in this, and in the wider sence, which includes philosophy, it is identical with it. Whichever name one uses and in whatever sense, practical and theoritical aspects are mutually implicated though they may be distinguished, they are never separable."[1] इस तरह हम कह सकते हैं कि धर्म, दर्शन और विज्ञान तीनों के बीच कोई प्रतिभाव नहीं, इस अर्थ में कि तीनों का लक्ष्य एक ही है, मानव-जीवन का एक स्पष्ट मार्ग प्रस्तुत करना तथा इस क्रम में मानव का हित पहुँचाना। इस परिप्रेक्ष्य में धर्म का भविष्य और भी प्रखर हो उठता है।

हम, अब इस स्थिति पर पहुँच गए हैं कि ऊपर के तर्क से कुछ निष्कर्ष निकाल सकें। प्रथमतः, कुछ लोगों ने धर्म को 'सैद्धान्तिक' कह कर इसका भविष्य अंधकारमय जताया, परन्तु यह तभी सत्य होता, जब धर्म मंदिर, मस्जिद एवं गिरिजा घर तक सीमित रहता। हमने यह दिखाने का प्रयास किया कि धर्म सिर्फ मंदिर, मस्जिद एव गिरजाघरों में ही सीमित नहीं है। इस संदर्भ में धर्म के एक नवीन संप्रत्ययन जो कि तर्कमूलक है, जताने का प्रयास किया। ऐसा इसलिए कि तर्कबुद्धि और धर्म के बीच कोई स्थायी एवं अनम्य प्रतिभाव नहीं है। पुनः, हमने यह भी प्रयास किया कि अन्तःप्रज्ञ अन्तर्दृष्टि द्वारा धार्मिक विचारों का व्यावहारिक निदर्शन भी संभव है।

1. E. Eroll Harris, Revelation Through Science and Philosophy, London, 1958, p. 28.

द्वितीयतः, कुछ लोगों ने धर्म को आत्मनिष्ठ कह कर इसके अंधकारमय भविष्य की कामना की। परन्तु, हमने यह दिखलाने का प्रयास किया कि आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ का द्वैत ही गलत है और अगर कुछ समय के लिए इसे स्वीकार भी किया जाय, तो धर्म सिर्फ आत्मनिष्ठ ही नहीं, बल्कि वस्तुनिष्ठ भी है। तृतीयतः, कुछ लोगों ने धर्म और विज्ञान का प्रतिभाव दिखा कर धर्म के भविष्य को अंधकारमय जताया, परन्तु हमने यह दिखाने का प्रयास किया कि धर्म और विज्ञान का विरोध स्थायी नहीं है; क्योंकि दोनों का गन्तव्य एक ही है। इस संदर्भ में प्लैंक एवं आइन्स्टाइन के विचार अधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। चतुर्थ, कुछ लोगों ने धर्म और दर्शन के बीच प्रतिभाव दिखाकर धर्म के भविष्य को संदेहात्मक जताने का प्रयास किया, परन्तु हमने तर्कीय प्रत्यक्ष-वाद एवं तर्कीय विश्लेपणवाद की समीक्षा करते हुए यह जताने का प्रयास किया कि धर्म और दर्शन का प्रतिभाव आकस्मिक एवं वाह्य है, स्थायी एवं आन्तरिक नहीं। अंत में, हमने यह जताया कि पूर्ण संतोषप्रद मानव-जीवन के लिए धर्म, विज्ञान एवं दर्शन—तीनों के अनुभवों की आवश्यकता एक साथ है।

इस तरह, इन परिप्रेक्ष्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म न तो रूढ़िवादी है, न सिर्फ आत्मनिष्ठ और न ही इसका प्रतिभाव तर्कबुद्धि, दर्शन एवं विज्ञान से है, बल्कि यह सभी के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए मानवहित की कामना करता है। अतः, हमारा यह कहना आत्मकेन्द्रित तथा पक्षपातपूर्ण नहीं होगा कि धर्म का भविष्य द्युतिमान एवं अग्रोन्मुख है।

● ●

११. हिन्दुत्व का तात्त्विक लक्षण

डॉ० विश्वनाथ सिंह
एम० ए० (त्रय), पीएच० डी०
व्याख्याता, दर्शन-विभाग,
श्री चन्द उदासीन महाविद्यालय, हिलसा (नालंदा)।

विकासशील विधि-व्यवस्था :

हिन्दुत्व वह विकासशील विधि व्यवस्था है, जो अनादि काल से मानव-जीवन को आध्यात्मिक, सामाजिक, भौतिक, सांस्कृतिक एवं वैयक्तिक जीवन में प्रगति की प्रेरणा देती आ रही है। यद्यपि यह भारतीय उपमहाद्वीप में रहने वाले जनसमुदाय की जीवन-पद्धति से पूर्णतया सम्बद्ध रहा है, तथापि यह सार्वभौम मूल्यों एवं तथ्यों पर आधारित होने के कारण मानव-धर्म के रूप में स्वीकृत है। यह मानव धर्म है, सनातन धर्म है और इसीलिए इसे किन्हीं भौगोलिक एवं जातीय मान्यताओं की सीमा में बांधना ठीक नहीं है।

व्यापक एवं सनातन :

यह अत्यन्त व्यापक है, सार्वभौम है, सनातन है और मानव-मात्र की कल्याण-कामना लेकर चलता है। इसका जन्म किसी निश्चित काल एवं विशेष अवस्था में नहीं हुआ। इसका आरम्भ तो उसी दिन हुआ, जिस दिन मानव-मन में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की भावना आई। जिस दिन से मनुष्यों ने अपने जीवन को उन्नत, उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ बनाने के लिए सोचना प्रारम्भ किया, उसी दिन से हिन्दुत्व का आरम्भ हुआ। इसकी मर्यादा अत्यन्त व्यापक है, मान्यताएँ अतिशय उदार हैं। इसीलिए सुविख्यात पाश्चात्य विद्वान रोम्याँ रोला ने कहा है—"मैंने यूरोप और एशिया के सभी धर्मों का अध्ययन किया है, परन्तु मुझे उन सबों में हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है।"

आध्यात्मिक आस्थाएँ एवं मान्यताएँ :

अध्यात्म ही हिन्दुत्व की आत्मा है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है—"अध्यात्म ही एकमात्र सत्य धर्म है। आज हजारों वर्षों से धर्म ही भारतीय जीवन का आदर्श रहा है। सैकड़ों शताब्दियों से भारत की वायु धर्म के महान आदर्श से परिपूर्ण है, हमलोग इसी धर्म के आदर्श में पाले-पोसे गये हैं। इस समय यह धर्म-भाव हमारे रक्त में मिल गया है, हमलोगों की धमनियों में रक्त के साथ प्रवाहित हो रहा है। वह हमारा स्वभाव-सा बन गया है। हमारे दैनिक जीवन का एक अंग-सा बन गया है।" इस प्रकार यह आध्यात्मिक मान्यताओं को अन्य मान्यताओं की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है। इसका आधार जीवन के अनादि एवं अटल सिद्धान्त हैं। अतः, यह बतलाता है कि मनुष्य को अपनी चेतना, बुद्धि एवं प्रतिभा का उपयोग उच्च स्तर, निस्सीम आत्म अस्तित्व तथा अनन्त आनन्द की उपलब्धि हेतु करना चाहिए। संसार कर्मक्षेत्र है। अतः, इसी संसार में प्रेय को त्याग कर श्रेय की प्राप्ति करनी चाहिए।

विश्व की एकता :

हिन्दुत्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आध्यात्मिक एकता में विश्वास करता है। इस आध्यात्मिक एकता का प्रयोग मानव-जीवन में करके, यह मानव-जीवन को और व्यापक एवं महान बनाना चाहता है। आध्यात्मिक एकता की चर्चा करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—"All that is power in the universe, manifesting as force, or attraction, may, even thought—is but a different manifestations of that one power which the Hindus call 'Prana'. This 'Prana' acting on 'Akash' is creating the whole of this universe. In the beginning of a cycle, this Prana, as it were, sleeps in the infinite ocean of Akash. It existed motionless in the beginning Then arises motion in the ocean of Akash. Out of this movement came the various celestial system, suns, moons, stars, earth, human beings, animals, plants and manifestations of all the various forces and Phenomena."

यह आकाश और प्राण भी स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं। ये दोनों 'महत' तत्त्व से निकलते हैं और यह 'महत' सर्वव्यापक चैतन्य तत्त्व में समाहित होता है।

यही 'सर्वोच्च तादात्म्य' है। मनुष्य में अपूर्णता है, अज्ञान है, अन्धकार है और इसीलिए असन्तोष है। लेकिन हिन्दुत्व मनुष्य को इस अपूर्णता से, संकीर्णता एवं अज्ञान से ऊपर उठा कर पूर्णता प्रदान करने का प्रयास करता है। इसका सन्देश है—"असतोमा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतंगमय।" हिन्दुत्व के इन्हीं गुणों के कारण रोम्यां रोला को कहना पड़ा—"मेरा विश्वास है कि एक दिन इसके सामने समस्त जगत को सिर झुकाना पड़ेगा।"

जीवन का उद्देश्य, मोक्ष :

हिन्दुत्व की मान्यता है कि मानव-जीवन का उद्देश्य है—जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्ति एवं सांसारिकता से मोक्ष। पंडित श्रीराम शर्मा के शब्दों में—"असीमित अनन्त के ज्ञान-प्रकाश में मुक्ति ही हिन्दू धर्म की मूल मान्यता है। इसके अनुसार मोक्ष ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है, जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। लेकिन इस मुक्ति या मोक्ष को यहीं, इसी जीवन में, इसी धरती पर, मानवीय संबंधों में प्राप्त करना है, जीवन की कार्य-पद्धति में मूर्त्त देखना है। हिन्दू धर्म हमारे समस्त कर्मों को ईश्वरोन्मुखी बना कर, उन्हें पवित्र बना कर, लक्ष्य-संधान करने का साधन बनाना है।"

मानव-जीवन में संयम, सन्तोष एवं आत्मनियंत्रण द्वारा ही सच्चा आनन्द उपलब्ध हो सकता है। अंतर्मुखी एवं स्थितप्रज्ञ होकर ही मनुष्य परमानन्द पा सकता है। "आत्म वश्यैविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।" अतः, हिन्दू धर्म में विश्व की एकता एवं आत्मा-परमात्मा के मिलन का स्वर सबसे ऊँचा है। इसीलिए विक्टर कोसिन ने लिखा है—"जब हम पूर्वशिरोमणि भारत की साहित्यिक एवं दार्शनिक कृतियों का अवलोकन करते हैं, तब हमें ऐसे गंभीर सत्यों का पता चलता है, जिनकी उन निष्कर्षों से तुलना करने पर, जहाँ पहुँच कर यूरोपीय प्रतिभा कभी-कभी रुक गई है, हमें पूर्व के तत्वज्ञान के आगे घुटने टेक देना पड़ता है।"

जो जस करहि सो तस फल चाखा :

कर्मवाद का सिद्धान्त हिन्दुत्व की रीढ़ की हड्डी है। कर्म से तात्पर्य है, जो किया जाय—क्रिया, उसकी परंपरा एवं नियम, जिसमें कार्य अपने कारण के पीछे चलता है। देवी भागवत (१।५।७४) के अनुसार, "बिना कारण के कार्य होना कैसे संभव हो सकता है ?" अरस्तू ने भी कहा था—"X Nihilo Nihil

Fit" अर्थात् अकारण कुछ नहीं होता। तो मनुष्य के पुराने विचार जब साकार रूप में आते हैं, तो कर्म की संज्ञा पाते हैं। प्रत्येक कर्म की वर्तमान, भूत और भविष्य तीन अवस्थाएँ होती हैं। मनुष्य अपने कृतकर्म के अनुसार फल पाता है। इच्छा के अनुसार मनुष्य के विचार बनते हैं। विचार के अनुसार उसके कर्म होते हैं और कर्म, फल को लाता है। वृहदारण्यक (४।४।५) महाभारत (शान्ति पर्व २०१।२३) इसी सत्य की पुष्टि करते हुए कहता है—"कर्म फल में आसक्त व्यक्ति जैसे कर्म करता है, वैसे ही शुभ और अशुभ फलों को वह भोगता है।" इस प्रकार कर्मवाद में हिन्दू धर्म का दृढ़ विश्वास है। कर्म का सिद्धान्त नित्य कर्म एवं नैमित्तिक कर्म की ओर प्रेरित करता है और निषिद्ध कर्म से रोकता है। अतः, कर्मवाद का सिद्धान्त हिन्दुत्व की आत्मा है।

पुनर्जन्म :

हिन्दू धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति पुनर्जन्म में पूर्ण विश्वास करती है। कर्म के अनुसार छाया-शरीर दूसरा जन्म लेता है। अपने कृतकर्मों के फलों के भोग के लिए जीव जन्म-मरण के चक्कर में बार-बार आता है। "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्" की उक्ति में शंकराचार्य ने कठोर सत्य की अभिव्यक्ति दी है। पुनर्जन्मों के कारण कर्माशय हैं। पातंजल ने कहा है—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा। (पातंजल दर्शन साधन पाद—१३ वां सूत्र) अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों के कर्माशय का परिणाम जन्म, आयु और भोग होता है। अतः, क्लेश की जड़ से कर्माशय का वृक्ष बढ़ता है।' इसमें तीन फल लगते हैं—जाति, आयु और भोग। इससे अनेक संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार दो हैं—प्रधान एव उपसर्जन। दुर्बल संस्कार को उपसर्जन तथा प्रबल संस्कार को प्रधान कहते हैं। मृत्युकाल में प्रधान संस्कार वेगपूर्वक जाग उठते हैं और अपने समान पूर्व जन्म के संस्कारों को भी झकझोर कर जगाते हैं। इन्हीं संस्कारों के अनुसार अगला जन्म देवता, मनुष्य या पशु-पक्षी आदि में होता है।

इस प्रकार हिन्दू धर्म परलोक, पुनर्जन्म एवं आत्मा की अमरता में विश्वास करता है। आज विश्व के वैज्ञानिक एवं दार्शनिक भी इस तथ्य का अध्ययन करने लगे हैं। अतः, हिन्दू-संस्कृति का भंडार जितना भरा-पूरा है, उतना किसी भी अन्य संस्कृति का नहीं। इसीलिए मैक्समूलर को कहना

पड़ा—"मनुष्य के मस्तिष्क में जीवन के सबसे बड़े सिद्धान्त और सबसे बड़ी युक्तियाँ भारतवर्ष ने ही खोज निकाली हैं। यदि मुझसे पूछा जाय कि आकाश के नीचे मानव-मस्तिष्क ने कहाँ मुख्यतम गुणों का विकास किया, जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर सबसे अधिक गहराई से सोच-विचार किया और ऐसे तथ्य खोज निकाले, जिनकी ओर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए, जो प्लेटो और काण्ट के अनुयायी हैं, तो मैं भारतीयों की ओर ही संकेत करूँगा। यदि मैं अपने-आप से पूछूँ कि हम यूरोपीय किस संस्कृति का आश्रय लेकर वह सुधारक वस्तु प्राप्त कर सकते हैं, जिसकी कि हमें अपने जीवन को अधिक सार्थक, महत्त्वपूर्ण, विस्तृत और व्यापक बनाने में आवश्यकता है, न केवल इस जीवन के लिए अपितु बदले हुए अनंत जीवन के लिए, तो मैं फिर आपको भारत की ओर ही संकेत करूँगा।" काउण्ट जोन्स जेनी ने भी इस तथ्य को स्वीकारते हुए कहा है—"भारतवर्ष केवल हिन्दुओं का ही घर नहीं, वरन् संसार की सभ्यता और संस्कृति का आदि भंडार है।"

जानहि तुमहिं तुमहिं होइ जाई :

हिन्दुत्व में अन्य धर्मों की अपेक्षा एक भाव विशेष है। वह भाव है कि इसी जन्म में मनुष्य को ईश्वरप्राप्ति करनी होगी। दुर्लभ मानव-तन इसीलिए प्राप्त हुआ है कि आत्मा को परमात्मा में विलय किया जाय। दादूपंथी संत निश्चलदास इसी तथ्य को प्रकट करते हुए कहते हैं—

"जो ब्रह्मविद् वही ब्रह्म ताकी वाणी वेद"

इसी ब्रह्मज्ञान को ध्यान में रख कर जीवन की तीन स्थितियों का वर्णन आया है—पारमार्थिक स्थिति, व्यावहारिक स्थिति और स्वप्निल स्थिति। अतः, जीव जिस स्थिति में रहता है, उसे संसार वैसा ही दीखता है। अपनी-अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार संसार को सभी परखते हैं। "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।" बाइबिल में 'एक हाथी और सात अंधे' वाली उपदेशात्मक कहानी भी यही तथ्य प्रकट करती है। अतः, पं० स्वामी विवेकानन्द ने बिलकुल सत्य कहा है कि सैकड़ों जीवन तक लगातार प्रयत्न कीजिए, युगों तक अपने अन्तःस्थल को खोजिए, तो भी आपको एक भी ऐसा उदार धार्मिक विचार दिखाई नहीं देगा, जो कि आध्यात्मिकता की इस अनन्त खान हिन्दू धर्म में पहले से समाविष्ट न हो।"

वर्ण-व्यवस्था :

हिन्दू धर्म में वर्ण-व्यवस्था का विधान अत्यन्त तात्त्विक एवं मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। जिस प्रकार मानव-शरीर के चार प्रधान अंग हैं, उसी प्रकार विश्वरूपी विराट नर के चार प्रधान अंग हैं। ब्राह्मण मुख हैं, क्षत्रिय भुजा हैं, वैश्य उदर हैं और शूद्र पैर। इस प्रकार समाज के सेवा एवं भरण-पोषण के लिए, रक्षा के लिए तथा ज्ञानप्राप्ति के लिए कार्यों और दायित्वों का विभाजन कर दिया गया था। अतः, आज भी हिन्दुओं में वर्ण एवं जातिगत रूढ़ियाँ वर्तमान हैं।

मूर्ति-पूजा :

हिन्दू मूर्ति-पूजा को अवश्य मानते हैं, लेकिन मूर्ति का अर्थ वे कुछ और लेते हैं। वे मूर्ति में निर्गुण, निराकर ब्रह्म को आवद्ध नहीं मानते हैं। वे तो 'हममें, तुममें, खड़गखंभ में' सर्वत्र इस सर्वव्यापक शक्ति को समाहित मानते हैं। वे मंदिर में और प्रतिमा में ईश्वर को मानते हैं, तो देहमंदिर में भी उसे स्वीकार करते हैं। उनका आधार तो वेदान्त-दर्शन है, जो सम्पूर्ण विश्व को ही मिथ्या मानता है, पर व्यावहारिक स्थिति में जीने वाले व्यक्ति के लिए विम्बों, प्रतीकों एवं मूर्तियों के सहारे सोचना, समझना एवं अभिव्यक्त करना बेहतर है।

यज्ञ-सम्पादन :

हिन्दुत्व यज्ञ के विना अस्तित्वविहीन हो जाएगा। गीता में कहा गया है—"*नायं लोकोस्त्य यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम!*"[1] अर्थात् यज्ञहीन को यह संसार भी नहीं मिलता, परलोक क्या मिलेगा। यज्ञ का उद्देश्य केवल अग्नि द्वारा दिव्यशक्ति का उत्पादन एवं वायुशुद्धि ही नहीं है, यज्ञ तो मनोवांछित फल-दाता है। यज्ञ निःस्वार्थ एवं अनासक्त कर्म का ही नाम है। विनोबा का भूमि-दान यज्ञ, ज्ञानदान यज्ञ एवं नित्य यज्ञ दिखलाता है कि यज्ञ प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। हिन्दुओं में यज्ञ दैनिक जीवन का अंग बन गया है। हिन्दू-शास्त्रों में यज्ञ के अनेक प्रकार बताए गए हैं। लेकिन, प्रत्येक आर्य के लिए पंच महायज्ञ करने की सलाह दी गई है। ये पंच महायज्ञ हैं—

(१) ब्रह्म यज्ञ—संध्या एवं स्वाध्याय द्वारा आत्मसुधार करना।
(२) देव यज्ञ—अग्निहोत्र द्वारा पंच महाभूतों का विकार दूर करना।
(३) पितृ यज्ञ—माता-पिता एवं गुरुजनों की सेवा करना।
(४) ऋषि यज्ञ—वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय एवं प्रचार करना और अतिथि-सेवा।

---

१. गीता, ४।३१।

(५) बलिवैश्व देव यज्ञ—पशुओं से सेवा लेने के बदले उन्हें खिलाना, तब खाना।

इस प्रकार यज्ञ हिन्दुत्व का आदि प्रतीक है। हिन्दुओं में कोई भी शुभ कर्म बिना यज्ञ के पूरा नहीं होता। जन्म से लेकर मृत्यु तक १६ संस्कार एक प्रकार के यज्ञ ही हैं। नामकरण यज्ञ, उपनयन संस्कार यज्ञ एवं पाणि-ग्रहण यज्ञ आदि तो सभी हिन्दू मानते हैं। शरीर छूटने पर श्राद्धयज्ञ करते हैं। इस तरह यज्ञ हिन्दू धर्म का मूल है। हमारे शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि परमात्मा, संसार, मानव-जीवन, मानव-समुदाय और मानव के कल्याण-कारी कार्य सभी यज्ञ हैं।

सत्य, अहिंसा, अतिथि-सत्कार आदि :

हिन्दू धर्म में त्याग, बलिदान, दानशीलता, सत्य, अहिंसा, शरणागत-वत्सलता, अतिथि-सत्कार, नारी धर्म आदि का विशेष महत्व है। दधीचि ने बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय स्वयं का बलिदान कर हड्डियाँ दी थीं। हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, महात्मा बुद्ध एवं गांधी ने सत्य और अहिंसा की महिमा दर्शायी। अतिथि-सेवा तो महायज्ञ माना गया है। इसे ऋषि यज्ञ की संज्ञा दी गई है। शरणागत सुग्रीव एवं विभीषण को श्रीराम अभय दान देते हैं। हिन्दुओं में पातिव्रत धर्म विश्व के लिए अनोखी चीज है। आज की प्रगति-शीलता अब समझने लगी है कि प्रगतिशीलता का वास्तविक अर्थ क्या है। इस पातिव्रत धर्म के कारण हिन्दू नारी आज भी शील एवं सेवा की खान है। पति का अनिष्ट होने पर वह सती हो सकती है और जलती हुई ज्वाला में कूद सकती है। सीता, सावित्री, द्रौपदी, गांधारी, पद्मिनी आदि नारियों की कहानियाँ प्रातःस्मरणीय हैं।

अजर-अमर जीवनी-शक्ति :

हिन्दू धर्म में अजीब जीवनी-शक्ति है। कितने प्रहारों के बाद इसमें आज भी अपूर्व जीवनी-शक्ति है। बौद्धों ने, मुसलमानों ने, मुगलों एवं अंग्रेजों ने सारे प्रयत्न किए, पर हिन्दू धर्म की नींव नहीं हिल पाई। आज के युग में योग्य-तम का संरक्षण (Survival of the fittest) का नारा दिया जाता है। हिन्दू धर्म में वह योग्यता है, जिससे अपना अस्तित्व बचा सका। वह योग्यता है निर्माण-शक्ति की। महाभारत के भीषण संग्राम से हिन्दू धर्म की मान्यताएँ अस्त-व्यस्त हुईं, तो व्यास ने व्यवस्थित किया। बौद्धों के प्रहार को शंकराचार्य ने नष्ट किया। मुसलमानों के समय कबीर, सूर, तुलसी, नन्द, चैतन्य, मीरा

आदि भक्तों की बाढ़ आ गई। अंग्रेजों के धर्म-प्रचार को देख कर दयानन्द का आर्य समाज, राजा राममोहन राय, विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द एवं गांधी आदि आए।

यह व्यक्तिविशेष एवं ग्रन्थविशेष पर आधारित नहीं है :

हिन्दू धर्म किसी विशेष व्यक्ति का चलाया हुआ धर्म नहीं है। इसकी कोई एक मात्र धर्म-पुस्तक भी नहीं है। यह युगों-युगों से आ रहे अनेक ऋषियों, तत्त्वदर्शियों, सन्तों, भक्तों, विचारकों, चिन्तकों के चिन्तन, शोध, प्रयोग एवं अनुभवों की उपज है। यह बहुत बड़े विद्वत समाज के वैज्ञानिक परीक्षणों का परिणाम है। अतः, यह किसी बँधी-बँधाई लकीरों से होकर नहीं चलता। इसकी मान्यताओं की सीमा प्रशस्त पथ के समान है। विवेकानन्द ने ठीक ही कहा है—"हमारे धर्म को छोड़ कर संसार के सभी धर्म एक-एक व्यक्ति के जीवन की ऐतिहासिकता के ऊपर निर्भर रहते हैं।...उन प्रवर्त्तकों के वाक्य ही उन धर्मावलम्बियों के लिए प्रमाणस्वरूप हैं और उनके जीवन की ऐतिहासिकता पर उस धर्म की सारी बुनियाद होती है। यदि उनकी उक्त ऐतिसिकतारूपी बुनियाद पर आघात किया जाय और उसे एक बार हिला दिया जाय, तो वह धर्मरूपी इमारत बिलकुल ढह पड़ेगी और उसके पुनरुद्धार की जरा भी आशा नहीं रहेगी। सच पूछा जाय, तो वर्तमान समय के सभी धर्मों के प्रवर्त्तकों के सम्बन्ध में ऐसी ही घटना घटित हो रही है। उनके जीवन की आधी घटनाओं के ऊपर तो लोगों को विश्वास ही नहीं होता और शेष आधी घटनाओं पर भी संदेह होता है।"

इतना ही नहीं, जिस प्रकार हिन्दू धर्म का ईश्वर निर्गुण है, उसी प्रकार इसका धर्म भी बिलकुल निर्गुण है। यह किसी व्यक्ति या ग्रन्थ पर आधारित नहीं है। इसमें हजारों अवतारों और महापुरुषों के लिए स्थान है। भागवत में आया है—"अवताराह्य संख्येया" (३—२६) अर्थात् अवतारों का अभ्युदय होता ही रहेगा। हिन्दू धर्म में अनेक अवतारों के आगमन की व्यवस्था है। अतः, इसमें विकास होना अवश्यंभावी है। इसीलिए काउण्ट जोन्स जेनी ने स्वीकारा है कि "भारतवर्ष केवल हिन्दुओं का ही घर नहीं, वरन् वह संसार की सभ्यता और संस्कृति का आदि भंडार है।"

हिंदी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली

अधिधर्मशास्त्र	Metatheology
अनुगमन	Ratiocination
अनुलोम	Direct
अभिवृत्ति	Attitude
अशुचिता	Profaneness
आत्मवर्ती	Selfsubsistent
आत्यन्तिक सत्ता	Authentic being
आयाम	Dimension
उत्प्रेरक	Evocative
उद्घोषण	Decernment
काम	Desire
गुह्य	Mystical
जीववाद	Animism
धर्मपरिवर्तन	Conversion
धर्मशास्त्र	Theology
निग्रह	Discipline
नियोजक	Prescriptive
परिगणनात्मक	Statistical
प्रकाशनीय	Revelatory
प्रतिश्रुति	Commitment
ब्रह्मविद्या	Theosophy
मनोरोग	Neurosis
मानक	Norm
रूढ़िवादी	Dogmetic

सत्यापनीय — Verifiable
संप्रत्ययन — Conception
संप्रत्यात्मक — Convictional
संसक्त — Coherent
सापेक्षतावादी — Relativist
साम्यानुमानिक — Analogical
सायुज्य — Communion
स्वभाववादी — Naturalist

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के
विज्ञान-संबंधी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. एक्स-किरण स्पेक्ट्रॉस्कोपी
प्रो० महेन्द्र नारायण वर्मा ६.२०

२. जीव रसायन, भाग–१
श्री शिवनाथ प्रसाद ११·५०

३. जीव रसायन, भाग–२
श्री शिवनाथ प्रसाद ६·७५

४. भौतिकी के चोखे प्रश्न
प्रो० महेन्द्र नारायण वर्मा १०·००

५. आवृतबीजी भ्रूणविज्ञान परिचय
प्रो० पी० माहेश्वरी ३३·००

६. विज्ञान का इतिहास
समरेन्द्र नाथ सेन २७·००

७. प्रारंभिक न्यूक्लीय भौतिकी
डेविड हैलिडे २७·००

८. कृत्रिम उपग्रह और विश्व
स्व० प्रो० ललित किशोर सिंह ४·००

९. कण और दृढ़ वस्तु का गति-विज्ञान
एस० एल० लोनी २१·८०

१०. ऊष्मा
स्व०प्रो० गणेश प्रसाद दूबे १२·५०